आत्मतत्त्व भारत की अमरता एवं स्वस्थ जीवन का राज

डॉ. हरवंशलाल ओबराय

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास

खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान

खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता

खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

प्रकाशक एवं वितरक :
स्वामी संवित् सुबोधगिरि
श्री नृसिंह भवन
संन्यास आश्रम,
भक्तानन्द शिव मन्दिर
भीनासर 334403
बीकानेर (राजस्थान)
मो. : 09413769139

अन्य पुस्तक प्राप्ति स्थान :

- श्री सुशील कुमार ताम्बी
  प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
  A/3 आर्य नगर
  एन.के. पब्लिक स्कूल के पास
  मुरलीपुरा, जयपुर 302039
  फोन : 0141-2233765 मो. : 09829547773
- **ज्ञान गंगा प्रकाशन**
  पाथेय भवन,
  बी-19, न्यू कॉलोनी, जयपुर
  दूरभाष : 0141-2371563
- **अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना**
  आप्टे भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला
  नई दिल्ली 110055
  फोन : 011-23675667
- **हिन्दू राइटर्स फोरम**
  129-बी, डी.डी.ए. फ्लैट्स (एम.आई.जी.)
  राजौरी गार्डन, नई दिल्ली 110027
- **जागृति प्रकाशन**
  श्री कृष्णानन्द सागर
  एफ-109, सेक्टर-27, नोएडा 201301
  फोन : 0120-2538101 मो. : 09871143768

ISBN 978-93-84133-02-3

प्रथम संस्करण : 2014 ई.

प्रतियां : 1100

मूल्य : अस्सी रुपये मात्र

आवरण : गौरीशंकर आचार्य

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

AATMTATTV BHARAT KI AMARTA EVM SWASTH JIWAN KA RAJ (Hindi)
Edited by Swami Samvit Subodhgiri ₹ 80

आशीर्वचन

भारतीय संस्कृति का आधार सनातन धर्म है। सनातन का अर्थ है जो आदि और अन्त रहित है। अतः यह धर्म अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक रहेगा। इस धर्म को अपनाने वाले को भी यह धर्म 'सनातन' की प्राप्ति करा देता है। ब्रह्म को ही वेदों में सत्य या सनातन कहा है। सनातन धर्म पर आधारित होने के कारण भारतीय संस्कृति भी सनातन संस्कृति है। भारतीय संस्कृति ओंकार-मूलक है। ओंकार ही ब्रह्म है, ओंकार ही आत्मा है, ओंकार ही जगत् है, ओंकार से भिन्न और परे किसी अन्य की सत्ता ही नहीं है। ओंकार से ही सारे वेद प्रकट हुए हैं। वेद अपौरुषेय हैं, अनन्त हैं, सनातन हैं। संस्कृति का विस्तार वेदों में प्रतिपादित कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञानकाण्ड के अनुसार हुआ। संस्कृति के संवाहक ऋषियों ने मानव मात्र के अभ्युदय और निःश्रेयस को प्रदान करने वाले जीवन-दर्शन और जीवन-विज्ञान को सारे विश्व में फैलाया। भारत-भूमि को इस संस्कृति-प्राकट्य और प्रसार के मूल-स्थान होने का गौरव प्राप्त है। इस संस्कृति-वीणा की दिव्य झंकार तो 14 भुवनों के आरपार होकर वैकुण्ठ, कैलास और मणिपूर व्यापिनी है।

अवतारों की लीलास्थली एवं ऋषियों की तपोभूमि भारत में संस्कृति का प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। संकट के समय में जब इसका बाह्य रूप प्रक्षीण हुआ तब भी यह अन्तःपयस्विनी होकर सतत प्रवाहित होती रही।

प्रस्तुत ग्रंथ में संस्कृति की इस अमरता और इसके वैश्विक रूप का सम्यक् दर्शन होता है। प्रखर मनीषी और उद्‌भट विद्वान् प्रो. हरवंशलाल ओबराय एक चल-विश्वविद्यालय व चल-पुस्तकालय होने के साथ-साथ ब्रह्मविद्या के श्रेष्ठ विद्यार्थी भी थे। एक स्थान पर स्थिर होकर लेखन कार्य में संलग्न रहना उनके स्वभाव में नहीं था। उन्होंने स्वयं लिखने से अधिक लिखवाया और उससे भी अधिक प्रवचनों में अभिव्यक्त किया। उनके द्वारा अभिव्यक्त बहुमूल्य सामग्री को स्वामी श्री सुबोधगिरिजी ने वर्षों तक संभाल कर रखा। संन्यास के पूर्व वे अनेक वर्षों तक प्रो. ओबराय के शिष्य बन कर रहे। उन्होंने सत्-शिष्य बन कर प्रो. ओबराय की सेवा की, उपासना की और उनसे अध्यात्म, धर्म, संस्कृति, इतिहास आदि अनेक विषयों का प्रामाणिक एवं दुर्लभ ज्ञान प्राप्त किया। प्रो. ओबराय ने अपनी प्रखर प्रतिभा, अनुसंधानात्मक वृत्ति तथा संश्लेषक व विश्लेषक प्रज्ञा द्वारा भारतीय संस्कृति के अनेक अज्ञात पक्षों का पता लगाया था। उनकी बहुत कुछ सामग्री तो उनके पश्चात् बचाई नहीं जा सकी। किन्तु सुबोधगिरिजी ने अपने पास की सामग्री को तथा कई अन्य स्रोतों से भी उनकी रचनाओं को एकत्र करके उन्हें लोक कल्याण के लिये प्रकाशित करने के संकल्प को जीवित रखा। प्रभुकृपा से अब उनका संकल्प पूर्ण होने जा रहा है। यह प्रकाशन प्रो. ओबराय के प्रति उनकी सच्ची श्रद्धांजलि है। प्रभु से प्रार्थना है कि वे निरन्तर ज्ञानार्जन करते हुए ब्रह्मविद्या के आलोक को प्राप्त करें।

—परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरि

सम्पादकीय

डॉ. राधाकृष्णन ने टी.एन.बी. कॉलेज भागलपुर के प्रांगण में कहा था—'दुनिया में इक्कीस तरह की सभ्यताएं आई और चली गईं। आज उनकी कब्रों पर सियार भौंक रहे हैं। केवल भारतीय संस्कृति पूर्व में थी, आज भी है और आने वाले युगों में भी रहेगी, क्योंकि यह सनातन पर आधारित है।' आत्मा की अमरता पर आधारित है। हम शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अजर-अमर अविनाशी आत्मा हैं। हमारा बाह्य कलेवर शरीर तो आने-जाने वाला है पर आत्मा शाश्वत है, सनातन है। देश-काल के थपेड़े उसे डिगा नहीं सकते। किसी भी प्रकार का प्रलोभन या मृत्यु का भय उसे अपने कर्तव्य से, अपने स्वरूप से च्युत नहीं कर सकते। भारतीय सभ्यता और संस्कृति आत्मा की अमरता पर आधारित होने के कारण चिरंजीवी बनी हुई है। विश्व की प्राचीन सभ्यताएं भौतिकता पर आधारित होने से नश्वर सिद्ध हुईं। भौतिकता में खाओ-पीओ मौज उड़ाओ के भाव का विकास होता है, उसमें श्रेष्ठ जीवनमूल्यों के लिये स्थान नहीं बचता। देश-काल के थपेड़े वे सह नहीं सकते, मृत्यु के भय और प्रलोभन में पड़कर वे अपने कर्तव्य से च्युत हो जाते हैं। इस कारण ये सभ्यताएं नश्वर सिद्ध हुई हैं, जबकि भारत आत्मा पर आधारित होने से भारत और भारत का जनजीवन चिरंतन सिद्ध हुआ है। अतः आत्म तत्त्व क्या है, इसका स्वरूप क्या है, इसका गंतव्य क्या है, इसकी व्याख्या की गई है, अद्वैत वेदान्त के अनुसार जो भारतीय दर्शन का सिरोमौर है।

हमारे राजा आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या में दीक्षित होते थे। क्योंकि बिना ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या में दीक्षित हुए कुशल प्रशासक नहीं बन सकता। ब्रह्मविद्या में दीक्षित व्यक्ति ही राग-द्वेष से रहित होकर सबको शोषणमुक्त शासन दे सकता है। इसलिये गीता में ज्ञान की परम्परा कहाँ से प्रारम्भ होती है, इस विषय में स्वयं भगवान् श्री कृष्ण बता रहे हैं, गीता के चौथे अध्याय के प्रथम श्लोक से तीसरे श्लोक तक—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।1।।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।।2।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।3।।

मैंने गीताज्ञान सबसे पहले सूर्य को (सूर्यवंशी राजा को) कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु को, मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया। इस प्रकार से यह ज्ञान राजाओं ने जाना। कालक्रम में लुप्त होने पर पुनः भगवान् एक कुशल प्रशासक (अर्जुन) को दे रहे हैं। एक श्रेष्ठ प्रशासक दूसरे प्रशासक को दे रहे हैं।

इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद् में आता है, श्वेतकेतु अपने पिता उद्दालक के साथ राजा अश्वपति के पास ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा लेकर पहुँचता है। तब राजा उनको सविधि उपदेश देता हुआ कहता है, इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण को विदित नहीं थी, अब मैं क्षत्रिय तुमको इसका उपदेश देता हूं।

बिना ब्रह्मविद्या में दीक्षित हुए सबमें एकत्व देख नहीं सकते। बिना एकत्व देखे हम राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो सकते और राग-द्वेष से मुक्त हुए बिना हम सबको शोषण मुक्त न्याय व शासन नहीं दे सकते। इसलिये ग्रीक दार्शनिक अरस्तू कहता है राजा को दार्शनिक होना चाहिये। और भारत में हम देखते हैं आत्मविद्या प्रारम्भ होती है राजर्षियों से। और हमारे राजा आत्म विद्या में दीक्षित होते थे।

भारत में विधिवेत्ता राजा या राजनेता नहीं ऋषि-मुनि होते थे, जो राग-द्वेष से रहित होकर मानव मात्र के हित को ध्यान में रखकर विधान रचते थे। अंग्रेजों के पूर्व तक यही स्थिति देखते हैं। जिन्होंने स्वयं का निर्माण किया है और स्वयं शासित हैं, वही दूसरों पर शासन करने के लिये विधान रच सकते हैं।

भारतीय समाज वर्ण व्यवस्था, वर्ण भेद नहीं, जाति व्यवस्था जातिभेद नहीं, पर आधारित है। इसके आधार पर भी हमारा समाज संगठित रहा है। और विदेशी आक्रान्ताओं को पराभूत कर सका।

भारत में राष्ट्र एक राजनीतिक इकाई नहीं वरन् सांस्कृति इकाई है, संस्कृति दो हृदयों का बंधन है, जिसे काल के थपेड़े तोड़ नहीं सकते। इसलिये भारत अनेक उत्थान-पतन के दौर में भी धराशायी नहीं हुआ। अडिग खड़ा रहा।

भारत में राज्य कभी केन्द्र में नहीं था। राष्ट्र जीवन के संचालन की अनेक संस्थाओं में वह एक संस्थाविशेष थी। भारत में परिवार एक संस्था है, विवाह एक संस्था है, ग्राम पंचायत एक संस्था है, गुरुकुल एक संस्था, आर्थिक संघ एक संस्था है। वैसे ही राज्य भी एक संस्था मात्र थी। जिसका काम राज्य की आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा, राज्य में कानून और व्यवस्था Law and Order

बनाए रखना, इतना ही दायित्व राज्य का था। कम-से-कम शासन यह भारत का आर्दश रहा है।

इसलिए हमारे राज्य जब पराधीन हुए तब भी हमारी परिवार व्यवस्था, आर्थिक संघ, गुरुकुल, आश्रम व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, जाति व्यवस्था अक्षुण्ण रही। फलतः राज्य भले ही पराधीन हुआ हो, राष्ट्र जीवन अखण्ड चलता रहा। और कुछ समय पश्चात राज्य का परतंत्रता को भी उखाड़ फेंका।

इन सब आधारों पर भारत राष्ट्र सदा अपराजित रहा है, आज तक अमर बना हुआ है और आगे भी अमर बना रहेगा। पर स्वराज्य के पश्चात् भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा होने के स्थान पर उपेक्षा हुई है। संस्कृति हमारी राष्ट्रीय एकता का आधार है, भारत की अमरता का भी आधार है और अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध व मैत्री का भी। जब हम अपनी संस्कृति को ही धर्म निरपेक्षता के नाम पर एवं इस्लाम एवं इसाइयों को तुष्ट करने के नाम पर, भौतिकवाद के आधार पर कूड़ा करकट समझकर उसको हम स्वयं ही बहिष्कृत और तिरस्कृत करने लग जाय तब व देश की एकता का आधार बचता है, न देश की अमरता का और अन्तरराष्ट्रीय सौहार्द-मैत्री का, विश्व के सांस्कृतिक दिग्विजय का हो आधार बचता है। दुर्भाग्य के स्वराज्य के पश्चात इसी मार्ग पर चल पड़े है। इस कारण स्वराज्य के बावजूद देश में जो अलगाव, बिखराव आया है, अराष्ट्रीय शक्तियों को बढ़ने का अवसर मिला है, पड़ोसी देशों सहित सारे विश्व के हमारे सम्बन्ध बिगड़े है तो वह संस्कृति की उपेक्षा के कारण ही। अब सत्ता में परिवर्तन हुआ है। मोदी सरकार आयी है। अब सम्भवतः मोदी सरकार इस अक्षम्य भूल को सुधारे। तभी भारत की एकता, अमरता, अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध और हमारे स्वस्थ जीवन का आधार पुनः पुष्ट होगा। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का राष्ट्रीय लक्ष्य साकार हो सकेगा और हम फिर से जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित हो सकेंगे और भारत सहित सम्पूर्ण विश्व में सुख-सांख्य, मैत्री और शान्ति का राज्य स्थापित हो सकेगा।

भारत राष्ट्र सांस्कृतिक अधिष्ठान पर अधिष्ठित होने और जीवन का समग्र पक्ष का चिन्तन होने, जिसमें किसी भी पक्ष की उपेक्षा न होने से भारत चिरंजीवी बना हुआ है, अमर बना हुआ है। पश्चिमी राष्ट्र राजनीति पर अधिष्ठित होने और जीवन का एक पक्षीय चिंतन होने से वे नश्वर सिद्ध हुए है और वर्तमान में पुनः क्षय की और अग्रसर है और इससे उबरने के लिये वहाँ के मनीषियों की दृष्टि भारत पर है। अतः भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक अधिष्ठान और जीवन के समग्र पक्ष के चिंतन से सम्बन्धित लेख इसमें शामिल है, जिसके आधार पर भारत अमर एवं संघर्ष काल में भी यशस्वी बना रहा।

मन के भी कई स्तर हैं, जिस पर अनेक शोधकार्य व विशेष अध्ययन हो रहे हैं, मनोविज्ञान-परामनोविज्ञान के अन्तर्गत।

मनुष्य अपने जीवन काल में आत्म लाभ कर सके, पूर्णता को प्राप्त कर सके, परम लक्ष्य तक पहुँच सके इसके लिये मन का स्वस्थ, सबल और चिंतामुक्त होना अति आवश्यक है। अतः चिंता के कारण क्या हैं, चिंता के क्या दुष्प्रभाव हैं और चिंता से कैसे मुक्त होकर मन को स्वस्थ-सबल बना सकते हैं। चिंता सबके जीवन में आती है। पर यदि मन सबल होता है तो वह उसे विचलित नहीं कर पाती और वह छोटी मालूम पड़ती है और उससे वह उबर जाता है। पर यदि मन दुर्बल है तो चिंताएं बड़ी प्रबल लगती हैं और वह उसे लक्ष्यच्युत कर विपथगामी बना सकती हैं। इसलिये मन को सबल बनाने के उपाय बताये गये हैं क्योंकि मन के जीते जीत है, मन के हारे हार है।

वस्तुतः आत्म स्वरूप में स्थित होने पर ही हम स्वस्थ होते हैं। जब तक हम अपने आत्म स्वरूप में स्थित नहीं हो पाते, या अपने अन्दर और बाहर स्थित ईश्वर को भुला देते हैं, कर्मफल के सिद्धान्त, पुनर्जन्म के सिद्धान्त में आस्था दृढ़ नहीं होती है, तभी हमारी प्रवृत्ति पाप कर्मों में होती है। जो ईश्वर को हाजिर-नाजिर मानता है, कर्म के सिद्धान्त में दृढ़ आस्था है, वह पाप कर्म व पाप चिन्तन से बचा रहता है, इसे अन्तिम दो लेखों में स्पष्ट किया गया है।

इसमें आत्मतत्त्व, Self डॉ. हरवंश ओबराय समग्र के चतुर्थ खण्ड से, मन की शक्ति और मन को स्वस्थ रखने के उपाय से सम्बन्धित लेख तीसरे खण्ड से और अन्तिम दो लेख मेरे हैं, जो विषय की स्पष्टता और पूर्णता के लिये इसमें शामिल कर लिया है। परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज के आशीर्वाद से प्रकाशित हो रहा है।

हमेशा की तरह सांखला प्रिंटर्स ने पूर्ण सहयोग करते हुए, श्रेष्ठ सुझाव देते हुए, तत्परता से मुद्रण कार्य को सुन्दरता से सम्पन्न किया। उनके प्रति विशेष आभार है।

शिवाकांक्षी

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

सम्पादक एवं संकलनकर्ता

मो. 09413769139

अनुक्रम

आओ! शिष्य बनें

भारत विश्वगुरु था। इसकी परा-अपरा विद्या को प्राप्त करने धरती के कोने-कोने से जिज्ञासु-मुमुक्षु इस पुण्य-भूमि में शिष्य-भाव से आते थे। इसी भूमि से ज्ञान-दीप ले त्यागी-तपस्वी-विद्वान् साधक, आचार्य विदेशों में जाते और ज्ञान-प्रकाश से वहाँ की संस्कृति के अँधियारे को दूर करते थे। इन ज्ञान-वितरकों के प्रेरक ऋषि थे, आत्मज्ञान ही इनका बल था, प्रभुप्रेम ही इनकी गति थी।

कालान्तर में भीषण युद्ध हुए—गृहयुद्ध भी व बाह्य आक्रमण भी। फलतः भारत की क्षात्र-शक्ति निर्बल हुई, बुद्धि-शक्ति अरक्षित हुई, अर्थ-तन्त्र ध्वस्त हुआ, लोक-जीवन दमित व अस्त-व्यस्त हुआ। ऐसे जर्जरित राष्ट्र का परतन्त्र होना स्वाभाविक था। भारत का स्थूल कलेवर पराजित हुआ था, मन व आत्मा नहीं। इसके स्थूल कलेवर में भी स्वातन्त्र्य-रक्त अल्पांश में प्रवाहित होता रहा था। सत्संग-स्वाध्याय, पर्व-परिवार, तीर्थ-तीर्थाटन आदि सांस्कृतिक संस्थानों द्वारा यह भारतीय संस्कृति प्राणन करती रही, मरी नहीं। किन्तु भीषण अत्याचारों के कारण इसका आत्मगीत दिशा-दिशा में मुखरित नहीं हुआ। कुछेक विभूतियों ने आविर्भूत होकर इसके आत्म-दर्शन का उद्घोष किया, किन्तु उसका संचार इसके सर्वांग में न हो सका। दीर्घ परतन्त्रता के पश्चात् प्राप्त तथाकथित स्वतन्त्रता भी दिखावे की सिद्ध हुई। इसकी आत्मा अभी भी मुक्त साँसों के लिये छटपटाती है। इसके पूत अभी भी याचक हैं, उच्छिष्टभोजी हैं, अन्धानुकरण में रत हैं। इस आन्तरिक परतन्त्रता से मुक्त होना ही होगा, क्योंकि इस संस्कृति का स्वधर्म ही आत्मोन्मुखी है, ईश्वरोन्मुखी है। इसके स्वभाव में चारों वर्णों का सामरस्य है। अपने स्वभाव की विरुद्ध दिशा में बहना इसके लिये भयावह है। किन्तु यह अपनी स्वदिशा में गतिमान कैसे हो? कैसे यह अपने विश्वगुरु पद को प्राप्त करे?

यह संस्कृति अपने गौरवपूर्ण पद को प्राप्त कर सके—इसके लिये प्रत्येक भारतीय को अपने स्वधर्म को पहचानना होगा। उसको लेकर उसे अपनी संस्कृति से एक लय में रहते हुए स्वकर्म करना होगा। उस स्वकर्म से उसे जगद्गुरु की शिष्यभाव से अर्चना करनी होगी। यों शिष्यभाव की अनगिन धाराएँ मिल कर एक प्रबल पवित्र प्रवाह बनेगा और तब फिर यह संस्कृति विश्वगुरु रूपिणी गंगा होगी, सृष्टि-मूल के गोमुख को पूर्णानन्द उदधि से जोड़ने वाली, मानव मात्र को तारने वाली भागीरथी होगी।

आओ! शिष्य बनें।

स्वात्म-संस्कृति के उन्नयन के लिये भगीरथ-प्रयास करें।

—परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज

आत्मा

भारत का धर्म दर्शन एवं समस्त चिन्तन आत्मा रूपी केन्द्रीय बिन्दु पर ही टिका हुआ है। भारत की सभी विचारधाराओं के लिए कोई सामूहिक नाम है तो वह अध्यात्मवाद (Spiritualism) है। हमने इसे ईश्वरवाद या Godism नहीं कहा। इसके कई कारण हैं—

(क) ईश्वर के विषय में भारत के दो-एक धर्मों में कुछ मतभेद हो सकते हैं। किन्तु आत्मा के विषय में किन्हीं भी भारतीय सम्प्रदायों में कोई भी मतभेद नहीं है। बौद्ध दर्शन ईश्वर के विषय में मौन है। जैन दर्शन उसकी सत्ता को आधा स्वीकारता है। किन्तु आत्मा की सत्ता, चार्वाक को छोड़कर शेष सभी भारतीय विचारधाराओं की आस्था का समान बिन्दु है। इसलिए भारत की चिन्तनधारा को अध्यात्मवाद और पश्चिमी चिन्तनधारा को भौतिकवाद, जड़वाद या भोगवाद नाम दिया जाता है। जो विचारधाराएं ये मानती हैं कि जड़ एवं चेतना शून्य पदार्थ ही विश्व की अन्तिम सचाई है उसे भौतिक कहा जाता है। इसकी तुलना में जो विचार-सरणी यह मानती है कि विश्व की अन्तिम सचाई परम चैतन्ययुक्त अमर आत्मा ही है उसे अध्यात्मवाद कहा जाता है। इसको मानने वाले अध्यात्मवादी कहलाते हैं।

(ख) भारत के जितने मत-सम्प्रदाय हैं उनकी चार समान आस्थाएं हैं। यही चार हिन्दू धर्म के दार्शनिक आधार हैं—

1. आत्मा अजर, अमर व अविनाशी है।

2. जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है।

3. जब तक मोक्ष नहीं मिलता तब तक पुनर्जन्म होता रहेगा। ताकि मनुष्य मोक्ष के लिये अधूरी रही साधना को अगले जन्मों में पूरा कर सके।

4. जब पुनर्जन्म होगा तो पिछले जन्मों के अर्जित कर्मों का फल, पिछली अधूरी साधनाएं अगले जन्म में साथ-साथ चलेंगी।

हिन्दू धर्म के इन चारों दार्शनिक सिद्धान्तों में सबसे आधारभूत सिद्धान्त आत्मा की अमर सत्ता ही है। उस एक की व्याख्या अथवा मंथन से चारों सिद्धान्त प्रकट हो जाते हैं।

आत्मा में अमरत्व सत्ता एवं स्वतंत्रता निजानन्द—जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष वास्तव में आत्मसाक्षात्कार की ही स्थिति है। यदि आत्मा में अमरत्व न हो तो आत्मसाक्षात्कार से क्या प्राप्त होगा। यदि दूध में घृत छिपा हुआ है तो मंथन से प्रकट किया जा सकता है। यदि फल में रस हो तो उसे प्रयत्न करके पान किया जा सकता है। किन्तु, जिस पानी में घृत का अंश है ही नहीं उसको बिलोने से घृत कैसे निकलेगा? जो कुछ आत्मा में गुम्फित है उसे प्रत्यक्ष प्रकट कर लेना यही आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष है। इस प्रकार आत्मा की सत्ता नहीं तो मोक्ष की कोई सम्भावना ही नहीं बचती है। यदि सत्ता कुछ हो ही नहीं तो स्वतंत्रता का क्या अर्थ होगा। मोक्ष की महिमा हेतु भगवान् मनु ने लिखा है—'सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखं' अर्थात् सर्वपरवशता ही दुःख है। आत्मवशता ही सुख है। यह आत्मवशता ही मोक्ष का आनन्द है जिसके लिए जीव 84 लाख योनियों में तरस रहा है।

यदि आत्मा कोई शाश्वत सत्ता है तभी तो आत्मवशता का कुछ अर्थ हो सकता है। अन्यथा नहीं। यदि बीज में आम हो तो वृक्ष में भी आम लगेगा। अन्यथा असम्भव ही है। यदि आत्मा में निजानन्द, परमानन्द निहित न हो तो आत्मसाक्षात्काररूपी मोक्ष में वह आनन्द कहां से प्राप्त होगा जो आत्मा में पिहित (Latent) है उसे अपिहित (Patent) या प्रकट करना यही मोक्ष साधना है। (आत्मा में जो गुण सम्पदा छिपी हुई है उसे पाना ही मोक्ष है)।

आत्मा की सत्ता पर पुनर्जन्म निर्भर—जब तक जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ तब तक पुनर्जन्म का विधान भी आत्मा की अमर सत्ता पर निर्भर एवं आत्मा की महिमा प्रकाश के लिए ही है। यदि आत्मा अमर न हो तो शरीर के श्मशान भूमि में जल जाने या जल में जलचरों का आहार बन जाने अथवा कब्र में मिट्टी बन जाने के पश्चात् पुनर्जन्म कैसे सम्भव होता है। किन्तु इतिहास के एवं प्रत्यक्ष जीवन के हजारों प्रमाणों से पुनर्जन्म सिद्ध हो जाता है।

पुनर्जन्म का उद्देश्य है आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयास का अवसर प्राप्त होना। पुनः पुनः पुनर्जन्म का उद्देश्य क्या है? उद्देश्य है आत्मसाक्षात्कार के लिए पुनः पुनः प्रयास। परीक्षा में एक बार अनुत्तीर्ण हो जाने पर पुनः परीक्षा में बैठने का अवसर सिद्ध करता है कि परीक्षा अनिवार्य है। और परीक्षा की महत्ता सिद्ध करती है कि जिस विद्या को प्रकट करने के लिए परीक्षा है वह विद्या बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यदि प्रथम प्रयास में सफल नहीं हुए तो पुनः-पुनः परीक्षा में बैठने का अवसर मिलेगा। किन्तु अन्ततोगत्वा परीक्षा में पास होना अनिवार्य है।

विद्या में अध्यात्मविद्या इसके प्रकटन के लिए पुनर्जन्म पर इसका दुरुपयोग करने पर मनुष्य योनि से पतित होकर पशु योनि प्राप्त होना कुछ समय के लिए—

भगवान् गीता में कहते हैं—'अध्यात्मविद्या विद्यानां' अर्थात् सब प्रकार की विद्याओं में मैं अध्यात्मविद्या हूं। इस विद्या की सफलता है आत्मसाक्षात्कार और उसकी परीक्षा का अवसर है पुनर्जन्म। जैसे परीक्षा में नकल, बेईमानी करने पर कुछ वर्षों के लिए परीक्षा से बहिष्कृत कर दिया जाता है। उसी प्रकार मानव जन्म में मोक्ष साधना के स्थान पर कुकर्मों में लग जाने पर कुछ समय के लिए मानव योनि से वंचित कर क्षुद्र-पशुयोनियों में ढकेल दिया जाता है।

पिछले जन्मों की संचित कमाई नष्ट नहीं होती वरन् कर्म सिद्धान्त के अनुसार साथ चलने का विधान—एक अथवा अनेक जन्मों में संचित कर्मों की पूँजी से यदि जीव मोक्ष का अधिकारी नहीं बना तो पुनर्जन्म के समय क्या उसकी पिछली सारी कमाई नष्ट हो जायेगी। यदि ऐसा हो तो बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण एवं अन्यायपूर्ण ही कहा जाएगा। कर्म सिद्धान्त में पिछले जन्मों की पूँजी साथ चलने का जो विधान है वह इसलिए है ताकि जीव अन्ततोगत्वा जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार का लाभ कर सके।

कर्म-सिद्धान्त आत्मा की अमरता पर आधारित एवं अनेक जन्मवाद पर आधारित—कर्म सिद्धान्त भी आत्मा की अमरता पर आधारित तथा आत्मसाक्षात्कार की उपलब्धि के लिये ही है। यदि आत्मा अमर नहीं तो पिछले जन्मों के कर्मों का फल शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात् कौन भोग सकता है। यदि मानव का एक ही जन्म होता है तो जन्म से ही किसी बच्चे को अंधा, लूला-लंगड़ा, भ्रष्ट पैदा करने वाला अल्लाह या God न्यायकारी कैसे कहा जा सकता है।

कर्मों की पूँजी का सुन्दर विनियोग पिछड़े साधक का सहयोग या जग हित के साथ-साथ कर्मफल प्रभु के चरणों में अर्पित—पूँजी सदा विनियोग के लिये ही होती है। कर्मों की पूँजी भी किसी उद्देश्य के लिये है। इसका सुन्दर विनियोग यह है कि शुभ कर्मों से जगत् का कुछ कल्याण हो सके। साथ ही जो साधक आत्मसाक्षात्कार के लिये अभी पीछे है उनका सहयोग करके उन्हें भी जीवन की परीक्षा में उत्तीर्ण होने में सहायता मिल सके। कर्मों की पूँजी का दूसरा विनियोग है प्रभु के दिये हुए तन से, प्रभु के दिये हुए मन से, प्रभु के दिये हुए धन से, प्रभु के दिये हुए जन से, प्रभु की दी हुई इन्द्रियों द्वारा, प्रभु के दिए हुए बुद्धि के प्रकाश से, प्रभु की दी हुई आत्मा की ज्योति से, प्रभु की प्रेरणा द्वारा प्रभु के रचे हुए जगत् में, प्रभु के जीवों के प्रति जो भी कल्याणकारी शुभकर्म इस शरीर से बन पड़े उन सब कर्मों को प्रभु के चरणों में ही समर्पित कर दिया जाए। इस प्रकार कर्मों के पुष्पों से, कर्मफल के नैवेद्य से कर्तापन के अहंकार रूपी कपूर को जलाकर कर्मों की सारी पूँजी प्रभु के चरणों में चढ़ाकर कर्मों द्वारा प्रभु की पूजा की जाए। ऐसे में कर्मों की पूँजी का सबसे उत्तम विनियोग भी हो जाएगा। पूँजी शेष न रहने से कर्म

का व्यापार भी बंद हो जाएगा। कर्मफल एवं कर्तापन का अहंकार विलीन हो जाने से कर्मों की फांसी भी समाप्त हो जाएगी और आत्मसाक्षात्कार रूपी जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य भी प्राप्त हो जाएगा।

आत्मा मूल बीज है। मोक्ष उसी का फल है। पुनर्जन्म उसी की खेती का प्रयास है और कर्म सिद्धान्त खेती के लिए उपयोगी खाद-पानी है। इस तरह हिन्दू धर्म के चारों दार्शनिक सिद्धान्त आत्मा पर टिके हुए हैं। इसलिए भारत ने आत्मा की साधना पर इतना बल दिया है। इसकी प्राप्ति से सब कुछ अपने आप प्राप्त हो जाता है। 'यत लब्धा ना परमं लाभम्'। जिसको लाभ करने के पश्चात् अन्य कोई बड़ा लाभ नहीं बचता। ऐसा अद्भुत आत्मतत्त्व है।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप परमात्मा ही है—जिस भगवान् की प्राप्ति के लिए जीव तरसता रहता है। जीवनभर साधना करता है। उसका स्वरूप क्या है? भारत के ऋषियों ने खोजा कि उसका स्वरूप आत्मा ही है। उसे शुद्ध आत्मा, विशुद्धात्मा, विश्वात्मा, परमात्मा, जगदात्मा आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। जब तक जीव अज्ञान में है तब तक नाम और रूप से बद्ध, अहंकार से दूषित मैं को आत्मा मानता रहता है। वह मेरा आत्मा, तेरा आत्मा शब्द भी प्रयोग करता रहता है। ये सब अहंकार से दूषित मैं का वर्णन है। नाम और रूप माया के दो बड़े अभिकर्ता हैं। वे शरीर और संसार का नाम परिचय (नामपट्ट) लगाकर माया का व्यापार चालू कर देते हैं। जब मनुष्य विवेक द्वारा यह जानता है कि नाम और रूप के लेबल सच्चे और शाश्वत नहीं हैं। तब नाम-रूप से परे अपने शाश्वत मैं की खोज करता है। नाम-रूप के अहंकार से परे जो निर्लिप्त आत्मा, असंग आत्मा, शुद्धात्मा की सत्ता है उसका ज्ञान या मात्र भान होने पर ही उसे प्रकाश होता है कि शुद्धात्मा, विशुद्धात्मा, निर्लिप्त आत्मा, असंग आत्मा की सत्ता है और शुद्धात्मा, विशुद्धात्मा, निर्लिप्त आत्मा, असंग आत्मा में मेरा-तेरा का कोई भाव नहीं बचता। वहां एक ही अखण्ड आत्मा की सत्ता है। बिजली के अलग-अलग बल्बों को देखकर लाल, पीले व हरे रंगों का भान होता है, किन्तु जिस विद्युत् से सब चमक रहे हैं उस विद्युत् का कोई रंग-रूप नहीं है। वह सभी रंग-रूपों का आधार होते हुए भी सभी रूप रंगों से निर्लिप्त है। इसी प्रकार यह असंग आत्मा, निर्लिप्त आत्मा सब जीवों में अखण्ड-एकरस होने के कारण इसे विश्वात्मा, जगतात्मा, सकल भूत अन्तरात्मा अथवा परमात्मा कहा जाता है। इस प्रकार परमात्मा मूलतः शुद्धात्मा ही है। परमात्मा परमचैतन्य रूप एवं परम ज्ञान स्वरूप है। यह आत्मा के ही गुण हैं। बिना आत्मा के न तो परमात्मा को समझा जा सकता है और न उसकी सत्ता सिद्ध की जा सकती है। कठोपनिषद् में बार-बार कहा है कि जो उस परब्रह्म परमेश्वर को जो नित्यों का नित्य, चेतनों का

चेतन है, जो उसे आत्म रूप करके जानता है उसी को परम सुख व परम शान्ति प्राप्त होती है, अन्य किसी को नहीं।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।

2/2/13 कठ उ.

जो नित्यों का नित्य और चेतनों का चेतन है और जो एक को अनेक बनाने में समर्थवान है। उस परमतत्त्व को जो धीर पुरुष स्वयं अपना आत्मा करके पहचान लेते हैं उन्हें ही शाश्वत सुख व शांति प्राप्त होती है। अन्य किसी को नहीं। इस प्रकार ईश्वर जो सब धर्मों का केन्द्रीय बिन्दु है वह स्वयं भी तात्त्विक दृष्टि से आत्मा ही है। वेदान्त का महावाक्य है—'अयमात्मा ब्रह्म'।

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं Self realisation is God realisation आत्मज्ञान ही परमात्मज्ञान है। आत्मा की प्राप्ति ही परमात्मा की प्राप्ति है। वेद-उपनिषद् बार-बार उद्‌बोधन करते हैं आत्मानंविद्धि अपने आपको जानो। यूनानी दार्शनिक सुकरात ने कहा—

Know thyself
Knowledge is power
अपने आपको जानो, ज्ञान ही महाशक्ति है।

महात्मा कबीर कहते हैं—

आत्मज्ञान बिना सब कुछ सूना
क्या मथुरा क्या काशी रे।
पानी बिच मीन प्यासी रे।
गुरु तेगबहादुर भी चेतावनी देते हैं—
कह नानक बिन आपा चिन्हे
मिटे न भ्रम की काई
काहे रे वन खोजन जाई?

सत्—

आत्मा का अस्तित्व

सच्चे मैं का स्वरूप—आत्मा का अर्थ है मैं। मैं के लिए संस्कृत में चार शब्द हैं—अहम्, स्वयं, निज और आत्मा।

दुर्भाग्य से मानव अपने सच्चे मैं को भूलकर इन चारों शब्दों का अशुद्ध प्रयोग करने लगा है। अहम् पर शरीर का अध्यास कर वह अहंकार करने लगा है।

इस अहंकार के कारण ही वह आत्मसाक्षात्कार के लक्ष्य से भटक गया है। स्वयं पर अपनी बुद्धि का आरोप कर वह कहता है मैं स्वयं विचार कर सकता हूं। मैं स्वयं निर्णय ले लूंगा। निज पर अहंता-ममता का अध्यास कर वह कहता है यह मेरा निज का व्यक्तित्व है। यह मेरी सम्पत्ति है, आत्मा पर मन का आरोप कर वह कहता है मेरे आत्म सम्मान को ठेस लगी है। मैं आत्म सम्मान के लिए सर्वोच्च न्यायालय तक केस लड़ूंगा। मैं शत्रु का सर्वनाश करके रख दूंगा। शुद्ध अहम्, शुद्ध निज, शुद्ध स्वयं, शुद्ध आत्मा ही हमारा सच्चा मैं है। चाहे कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी मैं के अस्तित्व से कोई इनकार नहीं कर सकता। जितना-जितना मैं के अस्तित्व पर शक करता है उतना-उतना मैं अपने आप सिद्ध होता जाता है। संदेह है तो संदेहकर्ता अवश्य है।

देकार्त एवं शंकराचार्य—शंकराचार्य और देकार्त तर्क देते हैं कि यदि सृष्टि में कुछ भी सत् नहीं तो संदेह पैदा होता है कि क्या मैं संदेह करने वाला स्वयं भी हूं या नहीं? संदेह संदेहकर्ता को सिद्ध कर देता है कि यदि संदेहकर्ता ही नहीं है तो संदेह पैदा हो कैसे सकता है। जितना-जितना मैं अपने अस्तित्व पर संदेह करता जाता हूं उतना-उतना ही अधिक मेरा अस्तित्व सिद्ध होता जाता है। इसी बात को फ्रांस के दार्शनिक देकार्त ने कहा—

Cogito Ergo Sum I know therefor I am.

मैं जानता हूं इसलिए मैं अवश्य हूं। मैं संदेह करता हूं अतः मैं अवश्य हूं। अतः सत् की सत्ता का विवेकपूर्ण व तर्कसंगत आधार मिल जाता है। स्वामी विवेकानन्द भी कहते हैं—प्राचीन काल में नास्तिक उसे कहा जाता था जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता था। पर मैं उसे नास्तिक मानता हूं जो स्वयं की सत्ता में विश्वास नहीं करता। यह बड़ी विचित्र बात है कि संसार का सबसे बड़ा नास्तिक भी अपनी सत्ता से इंकार करने को प्रस्तुत नहीं होता।

मैं को मान कर ही तत्त्वदर्शन का आरम्भ होता है। आत्मा स्वयंसिद्ध है—इस प्रकार मैं को मानकर ही समस्त तत्त्वदर्शन का द्वार खुलता है। यह अलग बात है कि कोई मैं के सच्चे स्वरूप की खोज करे और कोई उसके बहिरंग की मीमांसा तक ही सीमित रह जाए। किन्तु मैं के बिना किसी का भी काम नहीं चलता। मैं को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वरन् उसको असिद्ध करने का हर प्रयास इसको और अधिक सिद्ध करता जाता है। मुझे अपनी चेतना के द्वारा ही चेतना की चेतना है। I am conscious of my consciouness through by consciousness. इसलिए मैं को या चेतना को सिद्ध करने के लिए किसी भी बाहर के प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। मेरा चिन्तन ही सिद्ध कर रहा है कि मैं चिन्तनकर्ता अवश्य हूं।

इस प्रकार मैं या आत्मा स्वयंसिद्ध है। इसको दिखाने या सिद्ध करने के लिए किसी बाहर के प्रकाश या प्रमाण की आवश्यकता रहे वह परतःप्रमाण या परप्रकाश होता है। जैसे अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी को दिखाने के लिए दीपक के प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु आत्मा स्वत:प्रमाण एवं प्रकाश है, बल्कि इसी के प्रकाश से संसार की अन्य वस्तुएं और तत्त्व-ज्ञान के अन्य विषय प्रकाशित व प्रमाणित हो सकते हैं। बाहर की वस्तु को दिखाने के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है। वैसे बुद्धि के दीपक के दर्शन से वह प्रकाशित होती है। मैं होगा तभी जिज्ञासा होगी। बिना मैं के न प्रश्न होगा, न उत्तर। न दार्शनिक चर्चा की सम्भावना, न दर्शनशास्त्र। अत: सारा दर्शनशास्त्र इस आत्मतत्त्व पर ही टिका हुआ है।

न केवल दर्शनशास्त्र मैं पर टिका हुआ है वरन् सृष्टि भी—उपनिषद् के ऋषि कहते हैं केवल दर्शनशास्त्र ही क्यों सारा विश्व इसी आत्मतत्त्व से प्रकाशित व प्रमाणित हो रहा है। हम कल्पना करें कि यदि सृष्टि में चेतन तत्त्व न होता तो सृष्टि क्या होती, कैसी होती। इसकी कल्पना भी भयंकर है। क्योंकि कल्पना करने के लिए किसी चेतना की आवश्यकता पड़ती है। मुर्दा मुर्दों की बरात सजा कर मुर्दा घाट में मृत्युभोज करता तो उसकी हलवा-पूरी खाकर किस भौतिकवादी का पेट भरता। इसलिए सारी सृष्टि चेतना के तंतु पर ही टिकी हुई है। भगवान् गीता में कहते हैं—**भूतानामस्मि चेतना।** 10/22

अर्थात् मैं सब भूतप्राणियों की चेतना हूं। आत्मा का स्वरूप सत्-चित् आनन्दस्वरूप है।

आत्मा का सत् स्वरूप—सत् की कसौटी सदा बना रहना असत् जिसकी सत्ता सदैव न रहे—सत् वस्तु वह है जिसकी सत्ता सदा बनी रहे। भगवान् ने गीता में सत् की कसौटी बताते हुए लिखा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। 2/16

अर्थात् सत् का कभी अभाव नहीं है न ही असत् का होता भाव। तत्त्वदर्शियों, ऋषियों उन दोनों का किया यहीं ठहराव।

जो वस्तु सत् है वह कभी मिटेगी नहीं। जो असत् है वह सदा टिकेगी नहीं। संसार की जितनी वस्तुएं हैं सब सत् प्रतीत होती है। किन्तु, विवेक का दीपक जलाने पर पता चलता है एक न एक दिन उनका विकार या विनाश हो जाता है। एक समय था जब वह वस्तुएं नहीं थी। एक समय है जब ये वस्तुएं हैं और एक समय पुनः होगा जब वे वस्तुएं नहीं रहेंगी। जो वस्तु भूतकाल में असत् थी, भविष्यत् में पुनः असत् हो जाएगी। केवल वर्तमान में सत्-सी प्रतीत होती है। वह

वास्तव में असत् है, असत् ही है। केवल सत् की भ्रान्ति हो रही है। इसी भ्रान्ति को शंकराचार्यजी ने माया कहा है। इसके सत् प्रतीत होने का रहस्यमय कारण है कि अनेकता में भासित होने वाली सत् वस्तुएं मूलतः एक ही सत् के अधिष्ठान पर टिकी हुई है। नाम-रूप ने उनको अनेकता और अलग-अलग सत्ता की भ्रान्ति में बांध रखा है। जल की बूंद, वीचि, लहर, तरंग, ज्वारभाटा, फेन, वाष्प, बादल, घने बादल, वर्षा, हिमवृष्टि, नदी-नाला, तालाब, बावड़ी, कुआं, नद, महानदी, समुद्र, महासमुद्र सबके नाम-रूप पृथक्-पृथक् हैं। व्यवहार जगत् में भाप को बर्फ कहना और वर्षा को समुद्र कहना मूर्खता माना जाएगा। भाप गरम, बर्फ ठण्डी है, वर्षा बिन्दु में है, सिन्धु अगाध है। किन्तु इन सबके नाम-रूप के, माया के पर्दे के पीछे जो जल तत्त्व है वह एक और अविभाज्य है। उसके बिना जल के विकारों की सारी सृष्टि मिथ्या और माया ही है। इसी प्रकार अनन्त फैलाव वाला और अनेकता के रूपों वाला सारा विश्व किसी एक ही सत् वस्तु पर टिका हुआ है। जो उस एक को जाने वह ज्ञानी और जो परिवर्तनशील, नश्वर, अनेकता को ही जाने वह भ्रान्त अज्ञानी है। यदि शरीर सत् है तो उसका नाश कभी नहीं होना चाहिए। यदि इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, संसार के ऐश्वर्य-भोग, अहंता-ममता में बंधा हुआ सारा संसार सत् है, तो उसका कभी अभाव नहीं होना चाहिए। किन्तु सुषुप्तिकाल में पिण्ड और ब्रह्माण्ड सहित सारे संसार का अभाव हो जाता है। ये हम सब दैनिक अनुभव से जानते हैं। यदि हमारा ही अभाव हो जाता तो हम इस पिण्ड-ब्रह्माण्ड के अभाव के साक्षी कभी नहीं बन सकते। यदि सत् वस्तु का सत्यानाश मान लिया जाए तो मानव के विवेक व विश्वास का महाविनाश हो जाएगा जिसे संसार के लोग सत् कहते हैं। उसके विनाश के हम साक्षी हैं। सत्य त्रिकाल-बाधित है। वह सार्वदेशिक, सार्वकालिक सत्य होना चाहिए। क्षणभंगुर, काल-कवलित और देश परिच्छिन्न सत् नहीं। गुरु नानकदेवजी जपुजी साहब के प्रारम्भ में कहते हैं—आदि सच, युगादि सच, है भी सच, नानक होसी भी सच—आदि सत्य, युगादि सत्यम् भवति सत्य, भविष्यति सत्यम्। जो आदिकाल में सच है। युगों के विभाजन के समय भी सच है और भविष्यत् में सत्य रहेगा। उस सत्य वस्तु को जपो।

संसार उस परम सत्य को छोड़कर झूठी नश्वर वस्तुओं के चिन्तन में जीवन और जीवन की अमूल्य शक्तियों को नष्ट कर रहा है। हमने ऊपर सिद्ध किया कि आत्मा का अभाव होने पर सारे दर्शनशास्त्र का अभाव बल्कि सारी सृष्टि का अभाव हो जाता है। अतः आत्मा एकमात्र अजर, अमर, अविनाशी सत्ता है जिस पर सब कुछ टिका है। गीता में भगवान् आत्मा का निरूपण करते हुए कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणोन हन्यते हन्यमाने शरीरे।। 2/20, गीता

आत्मा Being है Becoming नहीं—आत्मा है इसे सत्ता (Being) कहा जाता है। यह होकर होने वाला Becoming नहीं है। आत्मा अस्ति न भवति। आत्मा है, होती नहीं है। आत्मा एक अखण्ड रहता है। शरीर और संसार की अन्य वस्तुएं जो नाम-रूप के कारण भासती हैं। सब विकारी, परिवर्तनशील और होकर होने वाली हैं।

आत्मा पंचभूतों से प्रभावित नहीं होती—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। 2/23, गीता

प्रत्येक शस्त्र अपनी धार या नोक से अपने से कुछ अधिक स्थूल वस्तु को ही काट या छेद सकता है। कोई भी शस्त्र अपने से अधिक सूक्ष्म भौतिक वस्तु को काट, छेद नहीं सकता। पतले कागज की खड़ी धार को उसको सीधे ऊपर से नीचे चाकू अथवा ब्लेड द्वारा भी काटना सम्भव नहीं होता। बाल को दो भाग में चीरना तलवार अथवा चाकू से भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार भौतिक शस्त्र अपने से अधिक सूक्ष्म भौतिक वस्तु को नहीं काट सकते। आत्मा तो अभौतिक है, फिर विश्व का सूक्ष्मतम तत्त्व है उसे शस्त्र कैसे काट सकता है? धरती भौतिक तत्त्व है उसे शस्त्र द्वारा दो भाग में काटा-बांटा जा सकता है। बालू थोड़ी देर के लिए काटा जा सकता है, कालान्तर में वे पुनः एकरूप, सम हो जाती है। जल को शस्त्र द्वारा क्षण भर के लिए काटने की भ्रान्त लीला हो सकती है। अग्नि को काटना असम्भव ही है। इसी प्रकार वायु और आकाश भौतिक तत्त्व होते हुए भी शस्त्र द्वारा काटे नहीं जा सकते। तब शस्त्रों की क्या मजाल है कि वे अभौतिक और परम सूक्ष्म आत्मा को काट सकें?

अग्नि केवल उन्हीं भौतिक वस्तुओं को जला सकती है जिनमें कार्बन हो और जलाने के वातावरण में ऑक्सीजन सहायक हो। जिस वस्तु में कार्बन नहीं होगा वह कभी नहीं जलेगी। जैसे कि सोना, चांदी, लोहा आदि धातुएं केवल पिघलती हैं, जलती नहीं। उनके भीतर जो कार्बन का खोट है, वह जल जाता है। कोयला पूर्ण कार्बन ही कार्बन है किन्तु किसी ऐसे बंद स्थान पर जहां कार्बन डाइऑक्साइड या नाइट्रोजन भरी हो कोयला कार्बन होते हुए भी कभी नहीं जलेगा क्योंकि वहां ऑक्सीजन का अभाव है। सेना के कार्य के लिए Fire proof गाड़ियां बनाई जाती हैं। दरवाजे पर Fire proof रंग-रोगन किया जाता है ताकि अग्निबम से जले नहीं। अस्पेस्टा पाषाण तंतु जिसको सीमेंट में मिलाकर छत की चद्दरें बनाते हैं वह भी आग में नहीं जलता। अग्नि पृथ्वी के कार्बनिक तत्त्वों को जलाती है। जल को वाष्प बना देती है किन्तु जलाती नहीं। वायु को गर्म करके फैला देती है जलाती नहीं। बड़ी से बड़ी आग भी आकाश को जला सकती नहीं। जब अग्नि सभी भौतिक वस्तुओं को भी नहीं जला सकती तब अभौतिक, परम सूक्ष्म आत्मा को कैसे जला सकती है?

जल पृथ्वी तत्त्व की उन वस्तुओं को गीला कर सकता है जिनमें कुछ छिद्र हों। तोलिया गीला हो जाता है, किन्तु बरसाती का कोट गीला नहीं होता। उसमें छेद न होने के कारण पानी फिसल जाता है। प्लास्टिक, शीशा, बेकुलाइट, लोहा आदि धातुएं भी पानी से गीली नहीं होती। पानी अग्नि, वायु, आकाश आदि को भी गीला नहीं कर सकता। जब आत्मा में कोई शस्त्र छेद कर ही नहीं सकता तब पानी कैसे घुसेगा? जो पानी अनेक भौतिक तत्त्वों को गीला नहीं कर सकता वह अभौतिक और परम सूक्ष्म आत्मा को कैसे गीला कर सकता है?

वायु उन वस्तुओं को सुखा सकता है, जो पानी से गीली हो सकती हैं। जो आत्मा गीला ही नहीं हो सकता तो उसको सुखाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इस वैज्ञानिक विश्लेषण से भी आत्मा की अमरता एवं अविकारिता सिद्ध होती है। उपनिषदों, योगवासिष्ठ एवं अन्य भारतीय ग्रंथों में आत्मा की अविनाशिता का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। आत्मा की सत्ता का विनाश करने का प्रयास आत्महत्या ही है। क्योंकि आत्मा तो स्वयं ही है। इसलिए आत्मा की सत्ता से इनकार स्वयं की सत्ता से इनकार है। बड़े से बड़ा नास्तिक भी अपनी स्वयं की सत्ता से इनकार नहीं कर सकता।

चित्त

चेतना का मूलस्रोत, अक्षय भण्डार आत्मा ही है। मुझे अपनी चेतना से ही चेतना की चेतना है। अतः मेरी चेतना सिद्ध करने के लिए किसी बाहर के प्रमाण या किसी डॉक्टर के प्रमाण पत्र की आवश्यकता नहीं है। चेतना एक स्वयंसिद्ध तथ्य है। इस चेतना ने ही सारे विश्व को प्रकाशित किया है। खनिज, वनस्पति जगत्, पशु-पक्षी जगत्, मानव, बौद्धिकता, नैतिकता और आध्यात्मिकता सभी चेतना से ही आलोकित हैं। चेतन तत्त्व के बिना विश्व के मुर्दाघाट में केवल महामृत्यु का ही नृत्य होता। इसे देखने वाला कोई भी नहीं होता। ऐसे विश्व की कल्पना भी असम्भव है। चेतना के सूर्य से ही पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह-नक्षत्र, बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् सभी कुछ आलोकित है। शरीर जड़ और आत्मा चैतन्य है। उस चेतन के संयोग से ही जड़ मुर्दा शरीर जो बिना चेतना के एक शब्द भी नहीं बोल सकता, ऐसा धाराप्रवाह भाषण करता है। यदि शरीर में बोलने का सामर्थ्य हो तो शरीर तो मुर्दे का भी है और कोई एक भी बोलकर दिखाये। शरीर तो अपने आप में गूंगा है। वह आत्मा के संयोग से इतना सुन्दर बोलता, गाता है। मुर्दा शरीर बिना आत्मा के एक कण भर भी हिल-डुल नहीं सकता। किन्तु आत्मा के संयोग से यही मुर्दा शरीर हिमालय की सर्वोच्च चोटियों पर चढ़ जाता है। सचमुच आत्मा की कृपा से गूंगे बोलने लगते हैं, पंगु पहाड़ की चोटी पर चढ़ जाते हैं—

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लंघयते गिरिम्,
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम्।

जिसकी कृपा से मूक भी वाचाल बन जाते हैं और लंगड़े भी पहाड़ लांघ जाते हैं। उस परमानन्द माधव को नमस्कार हो। वह परमानन्द माधव आत्मदेव ही है।

आत्मा ही चेतना है और चेतना ही आत्मा है। इसलिए आत्मा में चेतना मानना त्रुटिपूर्ण होगा। आत्मा में चेतना का प्रश्न नहीं है, आत्मा ही चैतन्य रूप है। चेतना आत्मा का कोई गुण मात्र नहीं है। वरन् वह उसका सारतत्त्व ही है। चेतना का अर्थ है—ज्ञान, प्रकाश और ज्योति। अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, अंत:ज्योतिस्वरूप है। वह एक ऐसी ज्योति है जो विश्व की समस्त ज्योतियों का मूलस्रोत है। वह ज्योतियों की भी ज्योति है। वह शुद्ध ज्योति है। परम ज्योति है। संसार में जितने प्रकाश हम देखते हैं उनमें कुछ न कुछ अंधकार का मिश्रण होता ही है। एक कमरे में सौ वाट का बल्ब लगाने से प्रकाश तो होता है, किन्तु उस प्रकाश में कुछ अंधकार का मिश्रण रहता है। दो सौ वाट का बल्ब लगाने से अधिक प्रकाश होता है, फिर भी कुछ अंधकार का मिश्रण रहता है। इसी तरह, 500, 1000 वाट का बल्ब लगाने से भी उस प्रकाश में कुछ न कुछ अंधकार का मिश्रण रहता ही है। क्योंकि उस भवन में और अधिक प्रकाश वाले बल्ब की गुंजाइश बनी रहती है। यदि कोई प्याला लबालब दूध से भरा हो तो उसमें एक बूंद भी अतिरिक्त दूध नहीं समा सकता है। यदि भवन में पूर्ण प्रकाश हो तो और अधिक प्रकाश की गुंजाइश नहीं बचनी चाहिए। तारों के प्रकाश में अंधकार स्पष्ट मिला हुआ है, चन्द्रमा के प्रकाश में अंधकार स्पष्ट दिखाई देता है। सूर्य के प्रकाश के समय में भी आधी धरती पर काल-रात्रि रहती है। सूर्य के दिन के प्रकाश में भी अनेक स्थानों पर छाया, प्रकाश की न्यूनता और बंद कमरों एवं गुफाओं में अंधेरा रहता है। इसका अर्थ है सूर्य के प्रकाश में भी अंधकार का मिश्रण है। आत्मा ऐसा महासूर्य है जिसका प्रकाश पूर्ण प्रकाश है। वह सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तक को भी प्रकाशित करने वाला है। वह अंधकार से नितान्त परे है। वह शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। वही एकमात्र जानने योग्य वस्तु है। उसके जानने का साधन भी ज्ञान ही है और वह ज्योतियों की ज्योति, परम ज्योति सबके अन्तर् में आत्मरूप से विराजमान है। इस महान् सिद्धान्त का कथन भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में किया है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।। 13/17

इतना महानतम प्रकाश मानव के हृदय में ही गुम्फित है। यही राजविद्या है। यही राजगुह्य है (सबसे बड़ा रहस्य है)। साहित्य में आत्मा में परमात्मा के दर्शन,

आत्मा के परमात्मा से मिलन भावों को रहस्यवाद कहा जाता है। रहस्यवाद की महान् कवयित्री महादेवी वर्मा लिखती हैं—

> बिन बिंदु मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं....
> पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी
> अधर भी हूं और स्मित की चांदनी भी हूं
> बिन बिन्दु मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं
> बिन्दु और रागिनी दोनों मैं ही हूं
> जैसे नभ और चांदनी सब मैं ही हूं।

गुरु अर्जुनदेव ने अपने ग्रंथसाहब में इसी रहस्यवादी भाव को दर्शाते हुए लिखा है—

> आपे गोपी, आपे काना, आपे गोऊ चरावे नाना
> आपे रसिया, आपे रस, आपे रावण हार
> आपे होवे चोल्डा, आपे सेज मतार।

महात्मा कबीर लिखते हैं—

> **ज्यों तिल माही तेल है ज्यों चकमक में आगि।**
> **तेरा साँईं तुझ्झ में जाग सके तो जागि।।**
>
> **सब घट मेरा साँईंया सूनी सेज न कोय।**
> **वा घट की बलिहारियां जा घट परगट होय।।**

चेतना होते हुए भी सहस्रों लोग चेतना को भूले रहते हैं। सहस्रों में से कोई एक चेतना की वृद्धि से विवेक से परम सत्य को जानकर उसकी उपलब्धि के लिये साधना करता है। ऐसे हजारों साधकों में से कोई एक विरला आत्मानुभूति से साक्षात्कार करता है। भगवान् ने गीता में कहा है—

> **मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।**
> **यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।** 7/3

यदि हजारों के स्थान पर एक लाख की गिनती की जाए तब लाख में कोई एक सौभाग्यशाली विरला आत्मसाक्षात्कार का देव दुर्लभ लाभ पाता है। दूसरे शब्दों में लाख में से 99,999 लोग शरीर को ही मैं मानते रहते हैं। जो बुद्धि से आत्मा को प्रमाणित कर सकते हैं वे भी अनुभूति के बिना देहाध्यास में ही फंसे रहते हैं। लोकतंत्र में बहुमत की विजय मानी जाती है। ब्राजील के एक प्राध्यापक ने कहा कि जब लाख में से 99,999 लोग शरीर को ही मैं मान रहे हैं तो उन्हीं के सिद्धान्त को बहुमत के आधार पर सत्य माना जाना चाहिए। इसके उत्तर में

कहा गया यदि 99,999 लोग साक्षी देते हैं कि मैं शरीर हूं तो इन्हें न्यायालय में साक्षी के लिये प्रस्तुत करो। सबसे प्रथम और सरल न्यायालय सुषुप्ति का है। सुषुप्ति में ही दिनभर के थके-मांदे जीव को पुनः 18-18 घंटा परिश्रम करने के लिए शक्ति मिलती है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त मानव की क्षय हुई शक्तियों को पुनः पूर्ति करने का अक्षय साधन सुषुप्ति है। जैसे बैटरी डिस्चार्ज हो गई उसे पुनः रिचार्ज करना है। बिना सुषुप्ति की इस शक्ति परिपूर्ति के मनुष्य कुछ दिन में ही पागल हो जाएगा और फिर उसका शरीरपात हो जाएगा। अतः सुषुप्ति ही शक्ति का वह गुप्त खजाना है जिसे जाग्रत् में हम व्यय करके सब काम-धंधे और भोग विलास करते हैं। किन्तु सुषुप्ति की कचहरी की पहली शर्त है कि इसमें नाम-रूप, देश काल, पात्र-परिस्थिति सब संसार के झूठे लेबल छोड़कर प्रवेश करो तभी शक्ति मिलेगी अन्यथा नहीं। अब 99,999 को सुषुप्ति की कचहरी की मर्यादा रखते हुए पूछा गया। तुम कौन हो जो दिन भर चिल्लाते रहते हो कि हम शरीर हैं, हम शरीर हैं। उन्हें सुषुप्ति की कचहरी में ले गये। उनमें से एक भी नहीं बोलता कि मैं शरीर हूं। यदि कोई बोल उठे तो सुषुप्ति की कचहरी समाप्त हो जाए। यदि सुषुप्ति की कचहरी मर्यादा से चलती रहे तो उसके 99,999 गवाह जो शरीर में नयी शक्तियों का भण्डार तो प्राप्त कर रहे हैं तनिक भी नहीं बोल सकते हैं कि हम शरीर है। उनके शरीर तो पड़े ही हुए हैं। वे किसी महान् सत्ता से जुड़े हुए दिनभर परिश्रम के योग्य नयी ऊर्जा प्राप्त भी कर रहे हैं। किन्तु साक्षी नहीं दे सकते कि हम शरीर हैं। अतः सुषुप्ति की कचहरी में 99,999 गवाह झूठे सिद्ध हुए। अतः 99,999 लोगों को सेशन न्यायालय में प्रस्तुत किया गया। वे ट्रक की ठोकर खाकर सड़क पर बेहोश पड़े हैं। पुलिस वाला और आने-जाने वाले राही पूछते हैं, आप कौन हैं? किन्तु इनमें से एक भी साक्षी नहीं देता कि मैं शरीर हूं। शरीर होते हुए भी शरीर नहीं बोलता कि मैं शरीर हूं। फिर 99,999 लोगों को उच्च न्यायालय के जज के पास प्रस्तुत किया गया। उनको बड़ी मात्रा में नशा पिलाकर बेहोश कर दिया गया। शराबी नाली में पड़ा हुआ है और कुत्ता मुख में पेशाब कर रहा हो तो उसे होश नहीं। अब शराब में बेहोश पड़े उन लोगों से पूछा जाता है तुम कौन हो? उनके शरीर तो सड़क पर पड़े हैं पर बोलता कोई नहीं कि मैं शरीर हूं। शरीर स्वयं शरीर का साक्षी हो ही नहीं सकता। जड़ शरीर का साक्षी तो कोई चेतन ही हो सकता है। बेहोशी के कारण चेतना विकृत हुई पड़ी है। फिर 99,999 लोगों को उच्च न्यायालय की फुल बेंच में प्रस्तुत किया जाता है। किसी औषधालय में उन्हें ईथर सूंघाकर चार घंटे के लिए शल्य चिकित्सा के लिए बेहोश कर दिया जाता है। फिर उन्हें पूछा जाता है कि तुम कौन हो? किन्तु एक भी उत्तर नहीं देता कि मैं शरीर हूं। जो चेतना जड़ शरीर

को जानती है वह औषधि के प्रभाव से चार घंटे के लिए दब गई है। मालिक के बिना खेत क्या उत्तर दे कि वह किसका है?

फिर इन 99,999 लोगों को श्मशान भूमि में महाकाल के सर्वोच्च न्यायालय में ले जाया गया। वहां सबके शरीर प्राणहीन, संज्ञाहीन हुए पड़े हैं। उनसे अन्तिम बार पूछा गया तुम कौन हो? शरीर पड़े रहने पर भी एक भी नहीं उत्तर देता कि मैं शरीर हूं। वास्तव में शरीर तो खेत है और चेतना क्षेत्रज्ञ। खेत का मालिक, खेत को जानने वाला—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। 13/1 गीता

शरीर क्षेत्र है और चेतना क्षेत्रज्ञ। मालिक ही खेत को पहचानता है। खेत मालिक को तो पहचानता ही नहीं। यह शरीर मेरा है, यह मैं ही जान सकता हूं। शरीर न अपने आपको पहचाने, न मालिक को पहचाने। जो चेतना शरीर को पहचानती है वह सुषुप्तिकाल में आत्म केन्द्रित या हृदय केन्द्रित हो जाती है। इसलिए शरीर निश्चेष्ट, इन्द्रियां सुप्त, मन मरा हुआ, बुद्धि पंगु हो जाती है। किन्तु इन्हीं सबको उस बेहोशी की अवस्था में नव प्राण, नव शक्ति, नव उत्साह, नव ऊर्जा प्राप्त हो जाती है। ट्रक की ठोकर खाने से मस्तिष्क की चोट के कारण चेतना का नियंत्रण करने वाला शारीरिक यंत्र (मस्तिष्क) कुछ समय के लिए काम करना बंद कर देता है। इसलिए शरीर के रहते हुए भी शरीर की चेतना लुप्त हो जाती है। शराब के भीषण नशे से चेतना विकृत हो जाती है। इसलिए शराबी अपने देश, भेष, परिवेश को भूल जाता है। चिकित्सालय में औषधि के प्रभाव से लगभग चार घंटे के लिए शल्य चिकित्सा में चीरफाड़ करने की सुविधा हेतु चेतना को कृत्रिम रीति से दबा दिया जाता है। श्मशान भूमि में तो चेतना शरीर से विलग हो ही जाती है। इन पांचों परिस्थितियों में शरीर के रहते हुए भी चेतना के केन्द्रित हो जाने के कारण, अन्तर्मुखी हो जाने, आहत हो जाने, विकृत हो जाने, दब जाने और विलग हो जाने के कारण शरीर अपनी सत्ता की साक्षी बिल्कुल नहीं दे सकता। शरीर होने की साक्षी भी तो चेतना ही देती है। जिस चेतना के सहारे शरीर की सत्ता का भान होता है। शरीर के प्रति ममता प्रदर्शित होती है। शरीर जीवित एवं चेतन प्रतीत होता है। इन्द्रियों में प्रकाश, मन में संकल्प, बुद्धि में विचार, चित्त में चिन्तन और अहम् में अभिमान पैदा होता है। वह चेतना ही यदि विलग कर दी जाए तो इन सबका अस्तित्व लुप्त हो जाता है। अतः चेतन आत्मा ही सत् है। वही चैतन्य का मूलस्रोत, अक्षय भण्डार और अपने दृष्टिनिक्षेप मात्र से जगत् को आलोकित करने वाला तथा प्राणियों में प्राण भरने वाला मन को संकल्प शक्ति प्रदान करने वाला और जिज्ञासुओं को ज्ञान बांटने वाला परम तत्त्व है।

यह शरीर चेतना के बिना साढ़े तीन हाथ का मांस का लोथड़ा, मल-मूत्र का थैला, जन्म-मृत्यु और जरा-व्याधि से पीड़ित, मरणधर्मा, निरन्तर विकारशील और परिवर्तनशील, मिट्टी का पुतला मात्र है। यह नितान्त अपवित्र है। चेतन के अलग हो जाने पर शरीर के छूते ही मानव अपवित्र हो जाता है। देश भर में गोतिया-सम्बन्धी लोगों को किसी स्वजन की मृत्यु का समाचार मिलते ही सबके घर में 13 दिन का सूतक (अपवित्र अवस्था का तपस्या काल) लग जाता है। शरीर छोड़ने के पश्चात् भी जीवात्मा 13 दिन तक सूक्ष्म शरीर एवं कारणशरीर के साथ अपने पुराने परिवेश, स्वजनों, परिजनों-सम्बन्धीजनों के घरों एवं मनों में मंडराता रहता है। इसके लिए उन 13 दिनों में कुछ व्रत-नियम करके, वैराग्य के ग्रंथों का स्वाध्याय करके दिवंगत जीवात्मा के कल्याण के लिए प्रार्थनाएं करनी चाहिएं। उस काल में संसार का मोह पुनः जाग्रत करने वाली रोदन लीला अथवा भोग लीला का वातावरण नहीं बनाना चाहिए। इससे दिवंगत जीवात्मा की आगे की उत्तम गति में बाधा पड़ती है और मृत्यु के दंश से पैदा होने वाले वैराग्य से भी मानव वंचित रह जाता है।

शरीर एक ऐसी फैक्ट्री है जो उत्तम से उत्तम पदार्थों को खाकर संसार की गंदी से गंदी वस्तु पैदा करती है। अधिकांश लोगों ने इसे H.E.C. (Heavy eating corporation) बहुभोजी निगम बना रखा है। यह बहुभोजी निगम प्रचुर मल त्यागी निगम भी है। इस कारखाने में कच्ची धातु के रूप में संसार के उत्तम से उत्तम पदार्थ डाले जाते हैं। किन्तु इसका उत्पादन क्या है? संसार का सबसे घिनौना पदार्थ मल-मूत्र आदि। अतः भोगी-रोगी शरीर एक बहुत घाटे की फैक्ट्री है। संसारभर के खेत-खलियानों को चाट गया। ऊर्जा की सारी कमाई को खा गया। सारे कोष खाली कर दिए। पर पापी पेट कभी भरा नहीं और दुनिया को मल-मूत्र से गंदा कर दिया। भोगी खाने और पाखाने के सिवा अन्य कोई श्रेष्ठ काम इस शरीर से नहीं लेता। फिर भी चेतन के संयोग से यह शरीर सत्कार पाता रहता है।

शरीर के बहिरंग सौन्दर्य पर लोग मोहित हो जाते हैं। प्रेमी-प्रेमिका इसके लिए माता-पिता, समाज, धर्म और परमेश्वर सभी को लात मारने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। किन्तु शरीर को ढकने वाली पतली चमड़ी के पर्दे को तनिक उतारकर देखें तो अन्दर का दृश्य देखकर प्रेमी-प्रेमिका या स्नेही जनों को तुरन्त घृणा हो जाएगी। तब लैला के शरीर पर मजनूं दीवाने नहीं होंगे। मजनूं तो घृणा से भाग जाएंगे। तब कुत्ते, कौए, गिद्ध और गीदड़ ही इस पर मोहित होकर अपने झपट्टे मारेंगे—

बाहर की चकाचक के नीचे अन्दर की रुलाई को देखा,
सोने के वरक में लिपटी गोबर की मिठाई को देखा।

चेतना के प्रताप से यह अपवित्र एवं विनाशशील और विकारी शरीर भगवान् का मन्दिर बन जाता है। वेदों में चेतना की महिमा के कारण इस शरीर को ब्रह्मपुरी कहा गया है। इस शरीररूपी-पुर में वास करने के कारण ब्रह्म को पुरुष कहा गया है—

पुरे शयति इति पुरुषः

इसकी रक्षा के लिए इन्द्रियरूपी देवता पहरा दे रहे हैं। रात्रिकाल में शेष पहरेदार सो जाते हैं। किन्तु वायु देवता प्राणवायु के रूप में पहरा देता रहता है। इन इन्द्रियरूपी देवों का राजा देवराज इन्द्र हमारा मन है। वेद के एक अन्य मंत्र में शरीर को देवताओं की नगरी अयोध्या कहा गया है। जिसका भाव यह है—

यह आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली नगरी देवताओं की नगरी अयोध्या है। अयोध्या अर्थात् जिसे युद्ध में कोई जीत न सके। मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक इड़ा-पिंगला आठ चक्र बनाती हैं। योगी शरीर संयम द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत् करते हैं। कुण्डलिनी के इन आठ चक्रों में क्रमशः ऊपर उठते जाने से योगी को अष्ट-सिद्धियां प्राप्त होती हैं। शरीर के नौ द्वार खुले हुए हैं। इसके हृदय के कमल में एक हिरण्य (सोने का सिंहासन) है जिस पर करोड़ों सूर्य के प्रकाश के समान तेजस्वी आत्माराम विराजमान है। चेतन की महिमा ने इस अपवित्र से अपवित्र शरीर को पावन से पावन तीर्थ बना दिया है।

जब तक शरीर में चेतना है तब तक शरीर चेतना के कारण पुजता रहता है। मैसूर में सोने की खदानों में मिट्टी खोदी जाती है जिसमें सोने के कण छिपे हुए हैं। उन सोने के कणों के कारण वह मिट्टी भी मूल्यवान बन जाती है। उस मिट्टी पर पहरा रहता है। मिट्टी को चुराने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता है। उन खदानों में काम करने वाले श्रमिकों एवं वैज्ञानिकों को मिट्टी खोदने, घोलने के काम में मोटा वेतन देकर लगाया जाता है। सोने के अंश के कारण मिट्टी मूल्यवान बनी हुई है। जब सोना निकाल लिया है, तब मिट्टी को कूड़े के ढेर में फेंक दिया जाता है। तब न तो कोई उसका मूल्य बचता है, न कोई मान देता है और न सुरक्षा करता है। इसी प्रकार शरीर रूपी मिट्टी आत्मा रूपी सोने के कारण पूज्य बनी हुई है। इस शरीर को रोज नहलाते-धुलाते हैं। तेल-उबटन लगाते हैं, वस्त्रालंकार से विभूषित करते हैं। संसार की सब कपड़ा मिलें उसी की सेवा के लिए कपड़ा बना रही है। संसार के स्वर्णकार उसके श्रृंगार के लिए सुन्दर अलंकार बना रहे हैं। इसी के भोजन के लिए संसारभर के सब कृषक अन्न पैदा कर रहे हैं। इसी के निवास के लिए संसारभर के महल और मकान बने हैं। इसी के सम्मान के लिए चन्दन, केसर, तिलक, फूलमाला, आरती, पूजा आदि सब कर्मकाण्ड चल रहे हैं। इसी की

प्रसन्नता के लिए चित्रकार सुन्दर चित्र बना रहे हैं। गायक गान कर रहे हैं। नृतक नृत्य कर रहे हैं। कवि काव्य लिख रहे हैं और अभिनेता मनोरंजन कर रहे हैं। इसी के मन बहलाव के लिए बाग-बगीचे, नाटक, मेले, प्रदर्शनियां और खेल-तमाशे चल रहे हैं। इसी की सुरक्षा के लिए चौकीदार, पुलिस व सेना की व्यवस्था है। इसके शरीर और धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए संसारभर के न्यायालय काम कर रहे हैं। इसकी स्वाधीनता के लिए संसारभर के राज्य कार्यशील हैं। इस प्रकार सब कुछ इस शरीर की सेवा-शुश्रूषा, पालन-पोषण और प्रतिष्ठा के लिए चल रहा है। किन्तु कब तक? केवल तभी तक जब तक इसमें चेतन आत्मा लीला कर रहा है। चेतना के विलग होते ही ये सब व्यापार बंद हो जाते हैं। कोई अपने बहुत सम्मान योग्य वृद्ध पिता या पितामह को चेतना अलग हो जाने के पश्चात् घर पर रखकर उसको दैनिक नहलाने-धुलाने, भोजन कराने, प्रणामांजलि देने और उसकी आरती उतारने के लिए नहीं रख सकता। सोने के अलग हो जाने के पश्चात् मिट्टी को संग्रह किये रखना मूर्खता ही है। चेतना के विलग हो जाने के पश्चात् इस विकारी शरीर की गंदी मिट्टी को जो कि रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, वीर्य, अस्थि, चर्म, मल-मूत्र से पूरित है, उसे रखना अथवा पूजना चेतना का तिरस्कार, रोगाणुओं का प्रसार ही होगा। भारतीय संस्कृति चिन्मय है, मृण्मय नहीं है। हम चेतन के पुजारी हैं, मिट्टी के नहीं। अतः पिता-पितामह के नित्य चरणों में सादर वंदना करते हैं। उनके दिवंगत हो जाने पर उन्हीं के शरीर को दस-बारह मन लकड़ी की चिता पर अपने हाथ से फूंक देते हैं और चिता पर जलते हुए शरीर का एक भारी लकड़ी से कपालभेदन करते हैं। जीवितावस्था में कपालभेदन की कल्पना ही महापाप होगी। किन्तु चेतना के अलग हो जाने के पश्चात् वह कपालभेदन मृतक संस्कार का आवश्यक अंग बन जाता है। हम तनिक विचार करें कि सारा वस्त्र-भोजन, अलंकार, पूजा-प्रतिष्ठा चेतन आत्मा के लिए थी या मर्त्य शरीर के लिए? यदि मर्त्य शरीर के लिए होती तो चेतना के विलग होने पर भी चलती रहती।

एक गांव से भगवान् विष्णु की मूर्ति को दूसरे गांव में ले जाना था। और कोई साधन न मिलने पर एक धोबी के गधे का प्रयोग किया गया। गधे पर रखी हुई विष्णु भगवान् की मूर्ति को देखकर लोग हाथ जोड़, शीश नवाकर प्रणाम करने लगे। गदहे ने सोचा मुझे रोज डण्डे पड़ते थे। आज मुझे सभी प्रणाम कर रहे हैं। मैं निश्चय ही महान् बन गया हूं। गधा घमण्ड से अकड़ कर चलने लगा। अगले गांव पर पहुंचने पर जब मूर्ति उतार दी गई तो धोबी ने अकड़ की चाल के कारण कसकर डण्डे लगाये। तब गर्व भंग हुआ कि सब वंदनायें किसी और की थीं! इसी प्रकार शरीर रूपी गदहा आत्माराम विष्णु भगवान् को धारण करने के कारण पूजा व प्रतिष्ठा प्राप्त करता रहता है। किन्तु भ्रान्तिवश इसे अपनी पूजा समझकर

घमण्ड से अकड़ जाता है। पूज्य चेतन देव के अलग हो जाने पर इसे पुनः यम की मार पड़ती है और आग में झोंक दिया जाता है। विवेकी पुरुष जानता है कि सारी महिमा चेतन की और चेतन के कारण ही है। जो इसे जड़ शरीर की ही पूजा-प्रतिष्ठा मान बैठता है वह विवेकशून्य वैशाखनन्दन ही है।

चेतन के प्रताप से शरीर में भी कुछ ऐसी विशेषताएं आ जाती है जो किसी भी जड़ भौतिक वस्तु में अन्यत्र नहीं पाई जाती और वह भौतिक विज्ञान से विलक्षण है—

(क) भौतिक जड़ जगत् में वायु का स्वभाव छोटे से छोटा छिद्र मिलने पर भी बाहर आकाश की ओर भागने का होता है। किन्तु शरीर रूपी यंत्र में नौ बड़े द्वार और साढ़े तीन करोड़ बालों के रोमछिद्र, छोटे द्वार होने पर भी प्राणवायु कैसे टिका हुआ है। यह महान् आश्चर्य की बात है। यह सब चेतन आत्मा के प्रताप से ही है। चेतना के विलग होते ही प्राणवायु निकल जाता है। डॉक्टर लोग केवल प्राणवायु के निकलने को ही मृत्यु का कारण मान लेते हैं। किन्तु वह तो मृत्यु का लक्षण है। चेतना के लोप होने के क्षणों में ऊर्ध्व वायु गर-गर की ध्वनि के साथ शरीर से बाहर भागने लगती हैं।

(ख) भौतिक जगत् में किसी वायु भरे पात्र जैसे ट्यूब, बैलून में से वायु निकल जाने पर पुनः लौटकर उसी पात्र में नहीं आती। किन्तु चेतना के चमत्कार से जीवित मनुष्य का प्राणवायु दिन में 21,600 बार मुख या नासिका से बाहर निकलकर ब्रह्माण्ड की सैर करके पुनः शरीर में लौट आता है। श्वास का बाहर निकलना ही मृत्यु है और लौटकर आना ही जीवन है। जब तक चेतना का संयोग है तब तक 21,600 जीवन प्रतिदिन मिलते रहते हैं। किन्तु चेतना के विलग होते ही निकला हुआ श्वास लौटकर नहीं आता।

(ग) भौतिक जगत् में रगड़ने से या घर्षण करने से हर वस्तु घिसती है और दुर्बल बनती जाती है। किन्तु जीवित शरीर को मालिश करने, व्यायाम-कुश्ती करने से अंग दुर्बल बनने के बजाय मजबूत बनते हैं। बाहर के जगत् में वायु की गति सदा ऊपर की ओर रहती है। किन्तु मानव शरीर में वायु पूरे शरीर में संचार करती है और भोजन रस सर्वत्र पहुंचाती है।

(घ) बाह्य जगत् में जल अथवा कोई तरल पदार्थ नीचे की ओर बहता है किन्तु मानव शरीर में हृदय से रक्त सब ओर जाता है और ऊपर मस्तिष्क की ओर जाता है। भौतिक जगत् में किसी वस्तु को गर्मी में रखें तो गरम हो जाती है और ठण्डक में ठण्डी। किन्तु चेतना के प्रताप से शरीर का तापमान गर्मी तथा सर्दी में, राजस्थान की मरुभूमि तथा लद्दाख, तिब्बत के शून्य से भी 30 डिग्री नीचे वाले भयंकर शीत में भी साढ़े 99 डिग्री का बना रहता है।

(ङ) बाहर के जगत् में जो वस्तु कट-फट या टूट जाती है वह अपने आप मरम्मत होकर ठीक नहीं होती। चेतना के प्रताप से शरीर की प्रकृति बाहर की प्रकृति से विलक्षण है। टूटी हुई हड्डी अपने आप जुड़ जाती है और शरीर के व्रण-जख्म अपने आप ठीक हो जाते हैं।

इस प्रकार चेतन तत्त्व जड़ जगत् के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का उल्लंघन करके भी शरीर को बड़े विस्मयकारी ढंग से चलाता रहता है। शरीर में जो चेतना प्रतीत होती है वह आत्मा की ही है। यदि शरीर की अपनी चेतना होती तो मुर्दे को सूई चुभाने से मुर्दा चिल्लाता। इन्द्रियों की चेतना, ज्ञानेन्द्रियों की चेतना भी आत्मा के कारण है। अन्यथा मुर्दे की खुली हुई आँखें अपने भाई, बहिन, माता-पिता को पहचान सकती। कर्मेन्द्रियों की चेतना भी आत्मा के कारण है अन्यथा मुर्दा अपने ऊपर झपटने वाले कौओं, कुत्तों, गिद्धों आदि को भगा सकता। मन की चेतना भी आत्मा के कारण है। अन्यथा श्मशान भूमि में पड़ा हुआ कालिदास या रवीन्द्रनाथ कोई सुन्दर कल्पना का चित्र प्रस्तुत कर सकता। बुद्धि की चेतना भी आत्मा के कारण है अन्यथा श्मशान भूमि में पड़ा हुआ कोई योग्य वकील कोई सुन्दर तर्क सुना सकता। चित्त की चेतना भी आत्मा के कारण है अन्यथा मृतक पड़ा कोई कर्मवीर अपने चित्त का संकल्प बता सकता और कोई दार्शनिक चित्त का सुन्दर चिन्तन बांट सकता। अहम् की चेतना भी आत्मा के कारण ही है। अन्यथा मृतक पड़ा कोई अहंकारी अधिनायक या प्रशासक अपने अहंकार की पूर्ति का खेल दिखा सकता। इस प्रकार आत्मा ही एक अलौकिक तत्त्व है जिस पर चेतन, अवचेतन, अर्धचेतन, सीमित चेतन, पराचेतन, पूर्णचेतन सभी कुछ सूत्र में मणियों के समान पिरोये हुए हैं।

राजा कीर्तिशाह एवं स्वामी रामतीर्थ में ईश्वर-विषयक सम्वाद

राजा कीर्तिशाह : स्वामीजी! क्या आप ईश्वर में विश्वास रखते हैं?

स्वामी रामतीर्थ : नहीं, विश्वास तो उस वस्तु में किया जाता है, जिसे देखा न हो। 'To see God is to be God.' 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' ब्रह्म को जानने वाला तो स्वयं ब्रह्म बन जाता है, हम तो नित्य ब्रह्म के साथ ही विहार करते हैं।

कीर्तिशाह : तब स्वामीजी! क्या आप मेरी ईश्वर से भेंट करवा देने की कृपा करेंगे?

स्वामीजी : क्यों नहीं! अवश्य, आप साक्षात्कार के लिए आवेदन-पत्र बनाइये।

राजा कीर्तिशाह ने आवेदन पत्र में लिखा : 'हे सर्वशक्तिमान परमेश्वर! सादर निवेदन है कि मुझे आप से साक्षात्कार की अनुमति प्रदान की जाय।'

आपका विश्वासी, कीर्तिशाह।

स्वामीजी : राजा! आप अपने पत्र में पक्का नाम, पता लिख दो।

कीर्तिशाह : स्वामीजी! मैंने अपना नाम कीर्तिशाह लिख दिया है और अपना पक्का पता महाराजा, टिहरी गढ़वाल राज्य भी लिख दिया है।

स्वामीजी : राजा! क्या तुम्हारा कीर्तिशाह वास्तविक नाम है?

राजा : हाँ! स्वामीजी।

स्वामीजी : जब आप माता के गर्भ से प्रकट हुए तो क्या यह नाम आपके माथे पर लिखा था?

राजा : नहीं, स्वामीजी! यह नाम तो कुछ वर्षों बाद घरवालों ने ज्योतिषी के परामर्श से रख दिया।

स्वामीजी : नाम तो कल्पित होते हैं। केवल लोक-व्यवहार के लिए कल्पना से रख लिये जाते हैं, और आवश्यकतानुसार बदले भी जा सकते हैं। इसलिये आप के नाम नहीं है। नाम आपके शरीर पर अस्थायी रूप से चिपकाया हुआ लेबल मात्र है जो संसार ने दिया और संसार ही छीन लेगा। आपका व्यक्तित्व नाम से पृथक्, नाम के बंधन से मुक्त 'अनामी' है।

राजा : हाँ, स्वामीजी! नाम तो कल्पित संकेत-मात्र है। आवेदन में मैं नाम छोड़कर अपना शेष परिचय लिख देता हूँ।

साढ़े पांच फीट कद, 36 इंच छाती, ऐसा रंग-रूप आदि।

स्वामीजी : राजा! यह तो शरीर का वर्तमान परिचय है, आपका परिचय नहीं। शरीर भी परिवर्तनशील और विकारी है। इस शरीर की कहानी माँ के गर्भ में एक शुक्र के कीड़े से प्रारम्भ हुई, जिसे खुली आंख से देखा भी नहीं जा सकता। क्या उस वीर्य के कीटाणु का साढ़े पांच फीट कद, 36 इंच छाती और दो मन भार माना जा सकता है? गर्भ के अन्दर शुक्र कीट अनेक रूप बदलता है। शरीर के जन्म के समय वह बहुत छोटा एवं कोमल होता है। भ्रूण से शिशु, बाल, किशोर, तरुण, युवा,

प्रौढ़, वृद्ध, रोगी, मृतक इन सब रूपों में निरन्तर परिवर्तित होता हुआ यह शरीर श्मशान की धूलि के कण में समाप्त हो जाता है। शुक्र के कीड़े से लेकर श्मशान की राख के कण तक निरन्तर परिवर्तित होने वाले रूपों में आप अपना व्यक्तित्व कहाँ खोजोगे? राजा! तुम रूपों को धारण करने वाले, फिर भी रूपों से पृथक्, विकारी रूपों के बीच में अविकारी—रूपों की लीला के बीच अरूपी हो। न नाम तुम्हारा सही परिचय है और न रूप। आवेदन-पत्र पर पक्का नाम-पता लिखो तो परमेश्वर से तुरंत भेंट करवा दूँ।

राजा कीर्तिशाह : तब स्वामीजी! केवल इतना ही लिख देता हूँ—राजा, टिहरी, गढ़वाल राज।

स्वामीजी : राजा! क्या यह आपका पक्का पता है?

राजा कीर्तिशाह : हाँ, स्वामीजी! हम सदा से इस राज्य के शासक हैं।

स्वामी राम : एक समय था तुम्हारा यह शरीर ही नहीं था, एक समय है, यह शरीर है, एक समय पुनः होगा जब यह शरीर नहीं रहेगा। 30 वर्ष पूर्व तुम इस राज्य के राजा नहीं थे, 60 वर्ष पश्चात् तुम राज्य के राजा नहीं रहोगे। अतः यह पक्का पता कैसे हुआ?

राजा कीर्तिशाह : महाराज! राजा तो बदलता है, किन्तु राज्य तो स्थायी है। अतः केवल राज का नाम ही पक्का पता है।

स्वामीजी : राजा! तुम अपनी टिहरी गढ़वाल रियासत को रो रहे हो, एक समय था जब यह धरती ही नहीं थी, एक समय है जब यह धरती है, एक समय पुनः होगा जब यह धरती नहीं रहेगी। तब तुम्हारा पक्का पता कहाँ रहा?

राजा : तब स्वामीजी! इस प्रकार से तो जगत् में कुछ भी पक्का नहीं है।

मैं देख्यो निरधार, यह जग कांचो कांच सो—बिहारी

स्वामीजी : राजा! अगर तू अपना पक्का पता जान ले तो मैं एक क्षण में तुम्हारी परमेश्वर से भेंट करवा देता हूँ।

राजा कीर्तिशाह : मुझे कुछ समझ में नहीं आता, क्या कहूँ?

स्वामीजी : अच्छा राजा! क्या यह ताज तुम्हारा है?

राजा कीर्तिशाह : हाँ, स्वामीजी!

स्वामीजी : राजा! क्या तुम ताज हो?

राजा कीर्तिशाह : नहीं स्वामीजी!

स्वामीजी : क्या यह सिर तुम्हारा है? राजा = हाँ

स्वामीजी : क्या तुम सिर हो? राजा = नहीं

स्वामीजी : क्या यह मुख तुम्हारा है? राजा = हाँ

स्वामीजी : क्या तुम मुख हो? राजा = नहीं

स्वामीजी : क्या यह भुजाएं तुम्हारी हैं? राजा = हाँ

स्वामीजी : क्या तुम भुजाएं हो? राजा = नहीं

स्वामीजी : क्या यह छाती तुम्हारी है? राजा = हाँ

स्वामीजी : क्या तुम छाती हो? राजा = नहीं

स्वामीजी : क्या यह पेट तुम्हारा है? राजा = हाँ

स्वामीजी : क्या तुम पेट हो? राजा = नहीं

स्वामीजी : क्या ये जंघाएं तुम्हारी हैं? राजा = हाँ

स्वामीजी : क्या तुम जंघाएं हो? राजा = नहीं

स्वामीजी : क्या ये पांव तुम्हारे हैं? राजा = हाँ

स्वामीजी : क्या तुम पांव हो? राजा = नहीं

स्वामीजी : क्या यह जूते तुम्हारे हैं? राजा = हाँ

स्वामीजी : क्या तुम जूते हो? राजा = नहीं

स्वामीजी : राजा! क्या यह शरीर तुम्हारा है? राजा = हाँ

स्वामीजी : क्या तुम शरीर हो?

राजा : (सोचकर) नहीं स्वामीजी! शरीर के प्रत्येक अंग को छूकर मैंने निश्चय कर लिया है कि शरीर मेरा तो है, पर मैं स्वयं शरीर नहीं हूँ।

स्वामीजी : राजा! फिर तुम क्या हो?

राजा : स्वामीजी! संभवतः मैं मन हूँ। क्योंकि मन द्वारा ही मुझे भान होता है कि मैं शरीर का स्वामी हूँ।

स्वामी : राजा! तुम्हारा मन क्या कभी गलती करता है, कभी भूल करता है? तब मन की भूल या चंचलता ज्ञात होने पर क्या तुम मन की ताड़ना करते हो?

राजा : हाँ, स्वामीजी! मैं मन को, भूल अपराध करने पर बहुत फटकारता हूँ।

स्वामी : तब राजा! मन तुम्हारा नौकर जैसा है, जिसकी भूलों के लिए तुम उसे डांट-फटकार एवं दण्ड देते हो, तो तुम मन कैसे हो? तुम तो मन रूपी नौकर पर शासन करने वाले हो। बताओ, तुम कौन हो?

राजा : स्वामीजी! शायद में बुद्धि हूँ, क्योंकि बुद्धि के द्वारा ही मन की भूलों का ज्ञान होता है।

स्वामी : राजा! तुम कभी कहते हो, कि 'यह कठिन विषय मेरी बुद्धि से परे है।' कभी कहते हो, 'अरे! उस समय मेरी अकल ही मारी गई थी।' इसका अर्थ है कि बुद्धि की असमर्थता एवं बुद्धि की भूल को भी आप जानते हैं।

राजा : हाँ, स्वामीजी! बुद्धि की अयोग्यता, बुद्धि की सीमा, बुद्धि की असमर्थता तथा बुद्धि के भ्रम को बाद में मैं ही जान लेता हूँ।

स्वामीजी : राजा! तुम कौन हो?

राजा : स्वामीजी! मैं शरीर से परे, इन्द्रियों से परे, मन से परे, बुद्धि के परे कुछ हूँ, किन्तु कह नहीं सकता, मैं कौन हूँ।'

स्वामीजी : राजा! यह जो तुम कहते हो कि 'मैं' कुछ हूँ, इस 'मैं' का ही संस्कृत में नाम है 'आत्मा'।

यही तुम्हारा पक्का ठिकाना है। जो इस पक्के परिचय को जान लेता है, उसकी तुरंत परमात्मा से भेंट हो जाती है।

राजा : स्वामीजी! अब मेरी आंखें खुल गईं। सच्चा आत्मज्ञान ही परमात्म ज्ञान है।

आनन्द

आनन्द—आनन्द का अर्थ है शाश्वत सुख। सब जीवों को इन्द्रियसुख का परिचय है। कामना की पूर्ति हो जाने से जो मन की अनुकूलता प्राप्त होती है उसे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने के कारण इन्द्रियसुख कहा जाता है। किन्तु इन्द्रियां अपने आप कुछ सुख नहीं दे सकती। वह विषय-भोगों को चरती है और उनसे सुख प्राप्त करती है। इसलिए इन्द्रियसुख को विषयसुख अथवा भोगसुख भी कहा जाता है। जैसे पशु चरने के लिए नरम घास खोजता रहता है। जहां दिखाई दे उधर ही भागने की चेष्टा करता है। उसी प्रकार इन्द्रियरूपी घोड़ा नये-नये सुन्दर एवं लुभावने विषयों को खोजता रहता है और जहां दिखाई दे वहां तुरन्त चरने के लिए दौड़ता है। वह विषयों के लोभ से शरीररूपी रथ को भी अपने साथ उधर ही दौड़ाकर ले जाता है। जब कामना की पूर्ति नहीं होती तब मन की जो प्रतिकूलता होती है उसे

ही दु:ख कहा जाता है। इस दु:ख-सुख की चपेट में जीव संसार की लीला कर रहा है। सब सुख अन्ततोगत्वा दु:ख में बदल जाते हैं। सब संयोग-वियोग में बदल जाते हैं। लाभ हानि में बदल जाता है। सब जीवन बुढ़ापे में, बुढ़ापा मृत्यु में, मृत्यु अनेक दु:खदायी जन्मों में बदल जाती है। इस प्रकार संसार के सब सुख क्षणिक एवं अस्थायी होते हैं। मनुष्य शाश्वत सुख पाना चाहता है जिसका कभी नाश न हो। वह ऐसी शांति लाभ करना चाहता है, जो स्थायी हो। इन्द्रियों की भोग लीला से प्रकट हो गया कि बाहर के विषयों का सुख स्थायी नहीं है। इसलिए उसे शाश्वत सुख बाहर न खोजकर अन्दर खोजना पड़ेगा। बाहर के सुख खोजते-खोजते दुनिया हार चुकी है। गुरु नानकदेव के शब्दों में—

सकल सृष्टि का राजा दुखिया, हरि का नाम जपत होय सुखिया।

सारी सृष्टि के सारे राजा, सारा का सारा ऐश्वर्य एकत्र करके भी दु:खी ही रहे। जिसने अपने अन्तर में बाहर की सारी झूठी माया को हरण करने वाले हरि, चेतन आत्माराम, पूर्णकाम को पहचान लिया वह सुखी हो गया। हम दैनिक अनुभव से जानते हैं कि सुख वस्तुओं में नहीं हमारे अन्दर से पैदा होता है। मन की एकाकार वृत्ति होने पर जिस वस्तु या व्यक्ति से सुख मिलता है, वृत्ति बदल जाने पर अथवा वातावरण बदल जाने से उसी वस्तु या व्यक्ति से घृणा या दु:ख की अनुभूति होती है। अत: सुख बाहर न होकर भीतर ही है। अब मन की चंचल वृत्तियों के बदलते रहने से मनुष्य सुख-दु:ख भोगकर हंसता-रोता रहेगा। शाश्वत सुख तो मन में भी नहीं मिला। कोई अच्छा विचार मिल जाने पर बौद्धिक सुख होता है, किन्तु वह भी स्थायी नहीं रहता। अच्छे विचारों की विस्मृति हो जाने पर उससे मिलने वाला बौद्धिक सुख भूल जाएगा। फिर मन और बुद्धि भी तो स्वत:-प्रकाश नहीं है। ये भी आत्मा के प्रकाश से थोड़ा प्रकाश उधार लेकर अपनी दुकानदारी चलाते हैं। तो जिस चेतना के अक्षय भण्डार से थोड़ा-थोड़ा सुख मन और बुद्धि प्राप्त करते हैं उस पूर्ण चेतना में आनन्द का कैसा अक्षय भण्डार होगा इसका विचार किया जा सकता है।

संसार के जिन विषयों को भोगने से मनुष्य को इन्द्रिय तृप्ति या मनोरंजन होता रहता है उन्हीं की मात्रा बढ़ जाने पर मनुष्य का मन उकता जाता है और कई बार उनसे घृणा ही हो जाती है। दिनभर मधुर सुरीले गानों के रिकार्ड सुन-सुन कर भी मन उकता जाता है और बंद करो यह राग-रागिनियां, मुझे शांति चाहिए वह चिल्ला उठता है। मनुष्य जब अपने आप में होता है तब अपने भीतर से बड़ी शांति मिलती है। दिनभर जाग्रतावस्था में विषय भोगों की लीला के लिए पागल बनकर भाग-दौड़ करने वाला व्यक्ति भी रात्रि को तंग आकर इन्द्रियसुख के सब दरवाजे बंद करके सुषुप्ति काल में आत्मा की गोदी में चला जाता है ताकि उसे सुख-शांति

मिल सके। हर मानव का प्रतिदिन का अनुभव है कि उसे सुख-शांति, शक्ति और नवजीवन रात्रिकाल में सुषुप्ति के 5-6 घण्टों में ही मिलता है। अन्यत्र कहीं नहीं। प्रात:काल वह जागकर कहता है मैं बहुत आनन्द से सोया। यदि क्लब के नाच-गान का आनन्द इससे ऊंचा होता तो सुषुप्ति को छोड़कर वह सदा नाचघर में ही बैठा रहता। आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है। जो सत् वस्तु है वही परम सत्य है। अपने आपको स्वयं प्रकाशित करने के लिए चैतन्य ही है और स्वयं प्रकाश है सत्य का चेतना द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन हो जाने पर, सृष्टि के महानतम रहस्य को साक्षात् जान लेने पर जो सर्वोच्च रहस्य के खुल जाने का आनन्द प्राप्त होता है उससे बढ़कर संसार के किसी भी क्षणिक भोग विलास या अल्पकालिक मनोरंजन का सुख नहीं है। इसलिए आत्मानन्द, निजानन्द, परमानन्द को ब्रह्मानन्द कहा जाता है। सर्वोच्च सत्ता स्वयं प्रकाश होने के कारण परम चैतन्यमय है और उस परम चैतन्य के प्रकाश से जब उसका साक्षात्कार हो जाता है तब परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

क्या आत्मा का कोई परिमाण है? क्योंकि आत्मा पूर्ण अभौतिक तत्त्व है इसलिए उसके परिमाण का प्रश्न पैदा नहीं होना चाहिए। लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई व आकार आदि केवल भौतिक वस्तुओं के होते हैं। सूक्ष्म अभौतिक वस्तुओं के नहीं। ज्यों-ज्यों वस्तु सूक्ष्म होती जाती है त्यों-त्यों उसकी इन्द्रियगोचरता कम होती जाती है। पृथ्वी सबसे स्थूल है इसलिए इसे पांचों इन्द्रियों से जाना जा सकता है। जल में चार का प्रवेश रह जाता है। अग्नि और अधिक सूक्ष्म होने से उसके रस और गंध लुप्त हो जाता है। वायु और अधिक सूक्ष्म होने से उसके शब्द और स्पर्श दो गुण ही बचते हैं। आकाश में केवल शब्द गुण ही बचता है अन्य कुछ भी नहीं। यह भौतिक तत्त्व भी ज्यों-ज्यों सूक्ष्म होते जाते हैं त्यों-त्यों उनकी इन्द्रियगोचरता कम होती जाती है।

भारतीय दर्शन में मन को भी सूक्ष्म भौतिक तत्त्व माना है। यहां बाहर की पांचों इन्द्रियां प्रवेश नहीं कर सकती। इसमें केवल अन्त:करण ही प्रवेश कर सकता है।

ज्यों-ज्यों वस्तु स्थूल से सूक्ष्म होती जाती है वह वस्तु से तत्त्व बनती जाती है। आत्मा पहले तो वस्तु ही नहीं और तत्त्वों में भौतिक तत्त्व न होकर सूक्ष्मतम आध्यात्मिक तत्त्व है। अत: विवेक कहता है कि इसका परिमाण नहीं होना चाहिए।

किन्तु जैन दर्शन आत्मा का परिमाण मानता है। उनका कथन है कि जिस जीव का जितना बड़ा शरीर है उतना ही बड़ा उसका आत्मा है। अत: हाथी का आत्मा चींटी से बहुत बड़ा है।

वेदान्त कहता है सब में ब्रह्म समान है—कीड़ी, कुंजर दोनों में। जैन दर्शन अपने मत की पुष्टि में दृष्टान्त देता है कि शरीर के एड़ी से चोटी तक किसी अंग

को कांटा चुभाने से तो जीव को कष्ट होता है। इसका अर्थ है उसकी चेतना एड़ी से चोटी तक पूरे शरीर में फैली हुई है। इसलिए जितना बड़ा शरीर उतनी बड़ी आत्मा है।

यहां जैन दर्शन दो भ्रान्तियों का शिकार होता है। यदि आत्मा भौतिक है तभी उसका परिमाण हो सकता है। एक ओर हम आत्मा को जड़ न मानकर चेतन मानें और दूसरी ओर उसका परिमाण भी मानते रहें। यह परस्पर विरोधी बातें होंगी। अग्नि प्रज्वलित भी हो और उसका ताप भी न हो, बर्फ जमी भी हो और ठण्डी भी न हो। यह तर्कविरुद्ध है। यदि आत्मा का परिमाण मान लिया जाए तो माता के गर्भ से लेकर और जीवन के अन्त तक एक ही जीव का आत्मा शरीर के बढ़ने के साथ बढ़ता रहेगा। आत्मा में घटने-बढ़ने का विकार आ जाए तो आत्मा विकारी एवं विनाशशील बन जाएगा।

पूरे शरीर में चेतना की व्याप्ति है इसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु यह व्याप्ति मन के द्वारा है आत्मा के द्वारा नहीं। जाग्रतावस्था में मन जो आत्मा से थोड़ी चेतना उधार लेकर इन्द्रियों का संचालन करता है। वह इन्द्रियों के द्वारा बाहर के विषयों का कुछ अनुभव प्राप्त कर दुःख-सुख की प्रतीति प्राप्त करता है। सुषुप्ति काल में यह मन तो मर जाता है और किसी भी इन्द्रिय को बाहर के विषय का ज्ञान नहीं होता। क्या उस समय शरीर से आत्मा लुप्त हो जाता है? चिकित्सालय में क्लोरोफार्म से बेहोश कर देने पर शरीर को कांटा चुभायें या तेज छुरा शरीर को काटे उसका ज्ञान नहीं होता। क्या जैन दर्शन उस काल में आत्मा का अस्तित्व नहीं मानता। जिस व्यक्ति को लकवा, फालिज, अधरंग या कुष्ठ रोग हो जाता है उसके शरीर के कुछ अंग चेतनाशून्य होकर मृतप्राय: से हो जाते हैं। क्या उस समय रोग के कारण आत्मा भी डर कर छोटा हो जाता है? ऐसा है तो संकुचित होने वाला आत्मा अजर, अमर, अविनाशी कैसे हो सकता है? एक ओर जैन दर्शन आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त सत्ता और अनन्त सुख मानता है और दूसरी ओर उसे परिमाण के बंधन में बांधकर उसके विकारी, विनाशी बनने का मार्ग खोल देता है।

कठोपनिषद् में आलंकारिक रूप में आत्मा को हृदय के केन्द्र में अंगुष्ठमात्र बताया गया है। वास्तव में आत्मा का शरीर में कोई विशेष स्थान नियत नहीं है, फिर भी दोनों फुप्फुस के बीच में जो अंगुष्ठमात्र के परिमाण वाला एक छोटा-सा गड्ढ़ा प्रतीत होता है वही समझाने के लिए हृदय का केन्द्र कहा जाता है। वह एक ऐसा मर्म स्थान है जहां सुख और दुःख की अनुभूति सबसे अधिक होती है। मनुष्य प्रेम में और प्रसन्नता में अपने स्नेहीजन, मित्र, पुत्र, जीवनसंगी को हृदय से लगाना चाहता है। सिर से या पैर से नहीं। इसलिए आत्मा का संस्फुरण सबसे अच्छा हृदय केन्द्र में होता है और वह केन्द्र अंगुष्ठमात्र है। इसलिए आलंकारिक रूप में

उसे अंगुष्ठमात्र कह दिया गया है। वस्तुतः वह परम सूक्ष्म होने से किसी भी भांति नापा-तौला नहीं जा सकता। गीता में भगवान् कहते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि संन्निविष्टो। 15/15

मैं सबके हृदय में सन्निविष्ट हूं।

गीता में भगवान् पुनः कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। 10/20

हे गुडाकेश (निद्रा को जीतने वाले) अर्जुन! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित आत्मा हूं। मैं ही सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी हूं। पानी, बुलबुले, वीचि, लहर, समुद्र, नदी, झील, तालाब, नाले, झरने, प्रपात सबमें जल रूप से प्रभु ही विलसित हो रहे हैं।

भगवान् पुनः कहते हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।। 13/17

वह ज्योति की परम ज्योति सबके हृदय में विराजमान है। यहां पुनः उसी का संकेत किया गया है।

18वें अध्याय में भगवान् पुनः कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। 18/61

हे अर्जुन! ईश्वर सब भूतप्राणियों के हृदय-देश में बैठा हुआ है।

इसी प्रकार शंकराचार्य भी कहते हैं—

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वम्।

मस्तिष्क और हृदय में से कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है इस बारे में विचारकों में विवाद हो सकता है। किन्तु प्रत्यक्ष जीवन में हम देखते हैं कि मस्तिष्क के बिगड़ जाने पर मनुष्य पागल तो हो ही जाता है, किन्तु जैसे-तैसे जीवित रह सकता है। किन्तु हृदय के बंद हो जाने पर जीवन तुरन्त समाप्त हो जाता है। खोपड़ी वाला व्यक्ति बुद्धि का चमत्कार दिखाकर लोगों को प्रभावित कर सकता है। किन्तु जीवन की रूपान्तरणकारी प्रेरणा कोई हृदयवान व्यक्ति ही कर सकता है। विचार एवं तर्क मस्तिष्क में ही उत्पन्न होते हैं। किन्तु प्रेरणा एवं अनुभूति हृदय की वस्तु है। बुद्धिवादी मस्तिष्क से सत्य पर सुन्दर विचार करके पुस्तक या शोधप्रबन्ध लिख सकता है। किन्तु, सत्य की चमत्कारी जीवंत अनुभूति महात्मा गांधी या हरिश्चन्द्र जैसे किसी हृदय से सत्य के प्रति समर्पित

महापुरुष को ही हो सकती है। इसी कारण ईश्वर की सत्ता की अनुभूति, परम सत्य की अनुभूति, आत्मतत्त्व, आत्मा के चैतन्य आनन्द की अनुभूति हृदय में ही होती है, मस्तिष्क में नहीं।

हृदय उन दिव्य सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूतियों को ग्रहण करने वाला सर्वश्रेष्ठ यंत्र है। जिस प्रकार रेडियो का बक्सा अन्तरिक्ष से आने वाली रेडियो तरंगों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। उसे भी रेडियो रिसीविंग सेट के स्थान पर रेडियो ही कह देते हैं। जो आतिशी शीशा सूर्य की किरणों को ग्रहण करके केन्द्रित करता है उसे सूर्य या अग्नि कहना उचित नहीं है। किन्तु उसे सूर्य की किरणों को केन्द्रित कर आग लगा सकने के कारण आतिशीशीशा (आग लगाने वाला शीशा) कहा जाता है। वह शीशा स्वयं न गर्म है और न स्वयं आग लगा सकता है। वह केवल सूर्य की किरणों को केन्द्रित करने में समर्थ है। इसी प्रकार मानव हृदय आत्मा की अनुभूति को ग्रहण करने और केन्द्रित करने में समर्थ है। इसलिए कठोपनिषद् में आलंकारिक रूप में आत्मा को हृदय में अंगुष्ठमात्र परिमाण में स्थित वर्णन किया गया। कठोपनिषद् में ही उसे अव्यक्त, अमूर्त, अविकारी, अविनाशी आदि वर्णित किया गया है। इसलिए वास्तव में आत्मा का कोई परिमाण नहीं है। कई ग्रंथों में जीवात्मा को भी अंगुष्ठमात्र वर्णन किया गया है। किन्तु उसका कोई आकार न होने के कारण और वायुरूप होने के कारण उसका परिमाण मापने का कोई भी साधन मनुष्य के पास नहीं है।

क्या आत्मा चेतना की धारा या श्रृंखला मात्र है—बौद्ध दर्शन मानव के अहंकार की निवृत्ति के लिए कहता है कि आत्मा एक चेतना या नदी की धारा के समान है जिसके घटनाबिन्दु स्मृति की श्रृंखला से जुड़े हुए हैं। प्रत्येक घटना एक स्वतंत्र बिन्दु के समान है जो अगले बिन्दु से स्मृति-श्रृंखला से जुड़ जाती है और इस प्रकार की घटनाओं की श्रृंखला (स्मृति की बंधी हुई धारा) को मैं कह दिया जाता है। जब स्मृति की श्रृंखला टूट जाती है तो स्वयं अपनी ही बीती हुई घटना के मैं को आज का मैं पहचान ही नहीं पाता। यदि दस वर्ष पहले मैंने किसी से उधार लिया है या किसी का उपकार किया है और उस घटना को आज से जोड़ने वाली स्मृति की श्रृंखला कहीं से टूट जाए तो मैं स्वयं अपने बीते हुए मैं को न मानता हूं, न पहचानता हूं। दूसरा व्यक्ति कहता है आपने मुझसे रुपये उधार लिये। आपने मेरा तिरस्कार किया। किन्तु विस्मृति के कारण मैं मानता ही नहीं कि वह मैं ही था। भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का विचार इस रूप में इसलिए दिया कि मानव को अपने कर्तापन का अहंकार करने का स्थान ही न बचे। जिसे वह मैं समझता है वह वास्तव में चेतना के क्षणों की स्मृति से जुड़ी श्रृंखलामात्र है। जब पक्का मैं ही नहीं तब अहंकार किसका करें?

भगवान् शंकराचार्य ने बौद्धों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पूछा, आप जो मानते हैं कि सब कुछ परिवर्तनशील है तो ये सत्य ज्ञान है या असत्य ज्ञान। यदि यह सत्य ज्ञान है तो इसका ज्ञाता कौन है? यदि शरीरधारी बुद्ध इसका ज्ञाता है तो बुद्ध के जन्म से पूर्व सब कुछ परिवर्तनशील था यह कैसे सिद्ध होगा और बुद्ध के शरीरांत के बाद भी सदा सब कुछ परिवर्तनशील रहेगा इसका क्या प्रमाण है? जो स्वयं परिवर्तनशील है वह सब कुछ के परिवर्तित होने की साक्षी कैसे दे सकता है? शरीरधारी बुद्ध एकदेशी होने से सीमित परिवर्तन का द्रष्टा हो सकता है। सारे विश्व ब्रह्माण्ड के परिवर्तनशील होने का नहीं। शरीरधारी बुद्ध अल्पजीवी एवं नश्वर होने के कारण सीमित काल के परिवर्तनों का साक्षी हो सकता है, त्रिकाल अथवा सर्वकाल के परिवर्तन का कभी नहीं। सर्व देश और सर्वकाल के समस्त परिवर्तनों का साक्षी वह अमर आत्मा ही हो सकता है जो स्वयं अजर, अमर, अविनाशी, अखण्ड, अपरिवर्तनीय, सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक चेतन सत्ता है।

किसी तीस मील लम्बी दौड़ में सर्वप्रथम स्थान का निर्णय वही निर्णायक कर सकता है जो दौड़ प्रारम्भ होने से पहले भी वर्तमान हो। सारी दौड़ के बीच भी जागरूक निरीक्षक बना रहे और दौड़ के अन्त में भी सर्वप्रथम आने वाले व्यक्ति से पहले ही लक्ष्य बिन्दु पर वर्तमान रहे। यदि रैफरी या निर्णायक स्वयं मील आध मील दौड़कर हांफ कर गिर जाने वाला हो तो वह निर्णय क्या करेगा? सृष्टि के चरम और परम सत्य को और उसके रहस्यों को वही ठीक-ठीक जान सकता है जो सृष्टि की लीला प्रारम्भ होने से पहले भी चेतन सत्ता के रूप में वर्तमान है। सृष्टि की सारी लीला के बीच में भी निरन्तर वर्तमान है और सृष्टि के महाप्रलय की लीला का भी अमर साक्षी है। वरन् अनेकों महाप्रलयों का भी तमाशा देख चुका है।

यदि बौद्धों के मतानुसार कोई जीवात्मा या अमर आत्मा है ही नहीं तो कर्मफल किसको मिलता है? कर्म चेतना का एक कण करेगा और फल दूसरे कण को मिल जाएगा। इस प्रकार नैतिक न्याय नहीं हो सकेगा। यदि मैं पक्का न माना जाए तो पुनर्जन्म किसका होगा और निर्वाण किसको मिलेगा? इन समस्याओं का समुचित उत्तर बौद्ध दर्शन में न होने के कारण शंकराचार्यजी ने बौद्धों पर दार्शनिक विजय प्राप्त की।

शंकर ने अहंकार से मुक्ति के लिए मैं की सत्ता को नकारा नहीं वरन् यह कहा कि शुद्ध मैं की विस्मृति और अशुद्ध मैं का अध्यास होने के कारण ही मन रूपी चन्द्रमा को अहंकाररूपी राहु ग्रस लेता है।

अहंकाररूपी अशुद्ध मान्यता को इस विपरीत मान्यता से हटाया जा सकता है कि मैं शरीर, मन-इन्द्रिय आदि जीवात्मा नहीं हूं। अथवा यह सही मान्यता लानी पड़ेगी कि मैं निर्लिप्त शुद्ध आत्मा हूं। मैं शरीर-इन्द्रियादि की समस्त

क्रियाओं का साक्षी हूं। मैं स्वयं कुछ न करते हुए बाह्य प्रकृति की लीला और अन्त:प्रकृति की कर्मलीला का साक्षी हूं। गीता में भगवान् ने ऐसी ही मान्यता का उपदेश दिया है—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। 5/8

क्या आत्मा का कोई भार है? अथवा इसको बैठाकर परीक्षण करने का कोई यांत्रिक साधन है? कुछ वैज्ञानिकों ने मानव शरीर को एक शीशे के बाक्स में बंद कर दिया। उसकी मृत्यु पर कांच का बाक्स टूट जाता है। बाक्स में मानव शरीर को रखते समय वजन करके रखा गया था। उसका वजन जितना घटता है शरीर छोड़ने पर उसे आत्मा का भार माना गया। पर वास्तव में देहांत के समय जो प्राणवायु निकलता है उसके वेग के कारण कांच का बाक्स टूट सकता है। वायु के दबाव से वस्तु का वजन बढ़ जाता है। खाली ट्यूब में जब हवा भरी जाती है उसका भार बढ़ता ही है और हवा निकलने पर निश्चय ही घटता है। अत: शरीर में संचार करने वाली वायु के भार को आत्मा का भार मान लेना एक भ्रान्ति है। जो वस्तुएं वजन रखती है वह भौतिक कोटि में आ जाती हैं। किसी वस्तु की वायु जब अकस्मात् वेग से निकलती है तो उसके कारण वायुमण्डल में धक्का पड़ने से गति होती है। उसे आत्मा की गति मानना भी भ्रान्ति है। अत: आत्मा में न गति है और न भार है।

क्या आत्मा पूर्णतया अचल एवं गतिहीन है?

ईशावास्योपनिषद् में कहा है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:।।

अर्थात् यह आत्मा चलता है और बिल्कुल नहीं चलता है। वह दूर से दूर है और निकट से निकट है। वह सबके अन्दर में है फिर भी इसी के अन्दर बंदी न होकर सबके बाहर भी है।

गति और स्थिरता, दोनों सापेक्ष स्थितियां हैं। बिना किसी स्थिर वस्तु की तुलना में किसी अन्य चल वस्तु की गति को जाना ही नहीं जा सकता है। प्रत्येक वस्तु अपने आप में स्थिर प्रतीत होती है। वह किसी अन्य वस्तु की तुलना में चलायमान है। डॉ. आइंस्टाइन ने भी कहा है कि निरपेक्ष गति और निरपेक्ष स्थिरता दोनों तत्त्वत: एक ही हैं। अपूर्ण एवं जड़ वस्तु यदि स्थिर हो तो उन्हें गतिमान नहीं कहा जा सकता। किन्तु आत्मा पूर्ण एवं अभौतिक तत्त्व होने के कारण वह भौतिक जगत् के नियमों के बंधन से मुक्त है। इसलिए वह एक साथ अचल और गतिमान हो सकता है। यदि शरीर एकदेशीय है तो आत्मा सार्वदेशिक है। शरीर अल्पकालिक

आत्मा सार्वकालिक इसलिए वह एक साथ भूत, भविष्य, वर्तमान में हो सकता है। भौतिक वस्तु एकदेशीय होती है इसलिए यदि वह अन्दर हो तो बाहर नहीं हो सकती और बाहर हो तो भीतर नहीं हो सकती। आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप होने के कारण बाहर और भीतर एक साथ हो सकता है। उदाहरणस्वरूप आकाश एक ही समय में सब घटों और मठों के बाहर और भीतर हो सकता है। जब आकाश जैसा सूक्ष्म भौतिक तत्त्व भी अपनी सूक्ष्मता के प्रताप से बाहर और भीतर एक साथ हो सकता है तब परम सूक्ष्म आत्मा के लिए इसमें क्या बाधा हो सकती है? भौतिक वस्तुएं सापेक्ष हैं और आत्मा निरपेक्ष। भौतिक वस्तुएं देश-काल परिच्छिन्न हैं आत्मा देश-काल से मुक्त। बाहर और भीतर, निकट और दूर सब देश-काल के बंधन की दीवारें हैं। ज्यों-ज्यों हम सूक्ष्मता की ओर बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों देश-काल के बंधन लुप्त हो जाते हैं। तन की कारा में बंदी होने पर भी मन को जेल की दीवारें बंदी नहीं बना सकती। बुद्धि और अधिक सूक्ष्म होने के कारण और अधिक मुक्त है और आत्मा परम सूक्ष्म होने के कारण देश-काल के बंधन से पूर्ण मुक्त है। वास्तव में वहां देश-काल की सत्ता बचती ही नहीं। भौतिक जगत् में देश-काल की सीमायें अविद्याजनित विकार हैं। अंधेरे में भासने वाले छायारूप भूत तभी तक डरा सकते हैं जब तक सूर्य का प्रकाश नहीं हुआ। आत्मा सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होने के कारण वह पहले से ही सब देशों एवं कालों में विद्यमान है। उसे कोई गति करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि वह पहले ही उन सब देशों और कालों में वर्तमान है। अत: न देश उसको सीमित कर सकता है, न काल खा सकता है। देश और काल की सीमाएं नाम और रूप में बंटे हुए इस संसार में भेद एवं पृथक्ता दिखाने के लिए है। आत्मा में कोई भेद है ही नहीं अत: देश-काल के बंधन लुप्त हो जाते हैं।

सृष्टि का सर्वव्यापक तत्त्व मैं—एक बच्चा पूछता है कि हमारे घर में जो अतिथि आये हैं वह कौन हैं? पिता कहता है—रामदास! तुम्हीं बता दो कि तुम कौन हो? अतिथि कहता है, मेरे प्यारे बच्चे! मैं तुम्हारा चाचा हूं। बच्चा विस्मय से पूछता है मैंने प्रश्न किया यह कौन है? आपने कहा रामदास तुम्हीं बता दो तुम कौन हो? और अतिथि ने उत्तर दिया मैं तेरा चाचा हूं। मैंने जिन्हें यह कहा, आपने तुम कहा, फिर स्वयं वे अपने आपको मैं कह रहे हैं। चाहे दुनिया में सबके कल्पित नाम रखे हुए हैं, किन्तु नाम से कोई दूसरा ही उन्हें बुलाता है। कोई भी स्वयं को 'मैं' के अलावा अन्य संबोधन से नहीं बुलाता। नाम परायों के व्यवहार के लिए है स्वयं अपने व्यवहार के लिए 'मैं' ही है। अत: सब मानवों का वास्तविक एवं सबसे प्रिय नाम 'मैं' (आत्मा) ही है। केवल मानवों का ही नहीं सब प्राणियों में भी यह 'मैं' या 'स्वयं' समानरूप से व्याप्त है। जैसे मैं स्वयं बोल रहा हूं। तू स्वयं प्रश्न करने के लिए आ गया। वह स्वयं जाग उठा। वे

स्वयं पहुंच गए। वे नारियां स्वयं पनघट से पानी ला रही हैं। बच्चे स्वयं खेलने लगे। वृद्ध स्वयं चिन्तामग्न हैं। कुत्ता स्वयं भौंकने लगा। गाय स्वयं रम्भाने लगी। कोयल स्वयं गाने लगी। तोता स्वयं राम-राम बोलने लगा। मच्छर स्वयं घुस आए। मक्खियां स्वयं भिनभिनाने लगी। कीटाणु ने स्वयं काट लिया। बादल स्वयं बरसने लगा। सूर्य स्वयं तपने लगा। चांद स्वयं शीतलता बिखेरने लगा। इस प्रकार सारी सृष्टि में मैं तत्त्व पिरोया हुआ है।

आत्मा कार्य-कारण से परे है—भौतिक जगत् में प्रत्येक वस्तु का कोई कारण अवश्य होता है। यह कार्य-कारणवाद की शृंखला पीछे से पीछे वहां तक चलती जाती है जहां सृष्टि के प्रथम कारण तक हम पहुंच पाते हैं। किन्तु प्रथम का भी कारण खोजना तर्क का उपहास मात्र है। कार्य-कारणवाद भौतिक जड़ जगत् में अनिवार्य है किन्तु परम सत्य ने सारी सृष्टि को उत्पन्न किया, उसके पहले उसका भी कारण होगा ऐसा सोचना उचित नहीं है। इससे यह प्रकट होता है कि या तो सृष्टि का अन्तिम कारण नहीं था या वह चेतन तत्त्व न होकर भौतिक तत्त्व था। आत्मा चरम सत्य एवं परम सूक्ष्म होने के कारण वह स्वयं अपना आप ही कारण है उसे Causal (स्वकारण) कहा जाता है। वह सबका स्रष्टा है और उसका कोई स्रष्टा नहीं। वह सबका कारण है पर उसका कोई कारण नहीं। वह सबका जनक है। उसका कोई जनक नहीं है।

कार्य-कारणवाद दो प्रकार के होते हैं—

(1) Transient Causality नश्वर कार्य-कारणवाद—इसके अनुसार Cause produce the effect कारण कार्य को पैदा करता है। जैसे बीज वृक्ष को, अग्नि ताप को, जल स्नेह को। सामान्य लोग इसी कार्य-कारणवाद को मानते रहते हैं। इसमें दो बड़ी कठिनाइयां हैं—

(क) आधुनिक विज्ञान ने खोजा है कि सृष्टि में पदार्थ एवं ऊर्जा का भण्डार सदा एकसमान रहता है। उसमें न कुछ बढ़ाया जा सकता है और न कुछ घटाया जा सकता है। कहीं पदार्थ ऊर्जा में बदल जाता है और कहीं ऊर्जा पदार्थ में। किन्तु दोनों को मिलाकर कुल मात्रा सदा बराबर ही बनी रहती है। इसलिए Cause produces the effect यह वाक्य विज्ञान के Law of Indestructability of matter and Energy के विरुद्ध पड़ता है।

Transient Causality के विरुद्ध वेदान्त दर्शन की भी बड़ी ठोस आपत्ति है कि जब परम तत्त्व 'एकमेवाद्वितीयम्' है तो कार्य और कारण का भेद कैसे हो सकता है। अद्वैत तत्त्व में द्वैत कैसे हो सकता है। यह पैदा करने वाला कारण और पैदा होने वाला कार्य यदि दो वस्तुएं सिद्ध हो जाए तो अद्वैतवाद का भवन डगमगा जाएगा।

(2) आधुनिक विज्ञान एवं प्राचीन वेदान्त दोनों की दृष्टि से कार्य-कारणवाद का सही सिद्धान्त है Immanent causality अर्थात् अन्तर्भूत कार्य-कारणवाद। इसके अनुसार कार्य कारण में ही बीजरूप में छिपा रहता है। वही उचित प्रयास एवं अवसर से कार्य रूप में प्रकट हो जाता है। अत: cause doesnot produce the effect but become the effect. कारण कार्य को प्रकट नहीं करता वरन् कारण ही कार्य बन जाता है। इसी दृष्टि से आत्मा जगत् को पैदा नहीं करता स्वयं ही जगत् बन जाता है।

एकोऽहं बहुस्याम हो जाता है। कार्य कारण का विस्तार, विकास अथवा विकार है। क्योंकि आत्मा पहले से ही पूर्ण है। उसमें विकास या विस्तार का स्थान नहीं और विकार सम्भव नहीं। इसलिए आत्मा के क्षेत्र में कार्य-कारणवाद का कोई वश नहीं चलता। इसलिए आत्मा कार्य-कारण से परे है।

आत्मदर्शन का नैतिक महत्त्व—आत्मवान् पुरुष सब भूत प्राणियों को अपना आत्मा ही मानकर व्यवहार करता है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अन्य या पर को कष्ट दे सकता है किन्तु स्वयं अपने आपको नहीं सताना चाहता है। जब सब प्राणी मेरी ही आत्मा हैं तो मैं किसकी जेब काटूं, किसका गला काटूं? किस पर व्यभिचार या बलात्कार करूं? हिंसा करूं? गुरु नानकदेव कहते हैं—

बिखर गई सब तात परायी, ना कोई वैरी ना ही बेगाना,
सकल संग हमरी बन आयी, बिसर गयी सब तात परायी।

आत्मवादी व्यक्ति इतना उदार होता है कि वह स्वयं सबके दु:ख को अपना दु:ख मानकर दूसरे के क्लेशहरण हेतु एवं दूसरों की सेवा हेतु सदैव सचेष्ट रहता है। कोई बंधुभाव से, पुत्रभाव से, कोई खुदा का बंदा मानकर जीव भाव, प्रेम, करुणा, सहयोग, रक्षा भाव, परोपकार का बदला चुकाने के लिए करता है। किन्तु आत्मवादी दूसरे का उपकार वास्तव में दूसरे का परोपकार न मानकर स्वयं अपना ही उपकार मानता है।

आत्मा एक है अथवा अनेक?—आकाश में एक सूर्य का प्रकाश जैसे धरती के करोड़ों घटों में प्रतिबिम्बित होता है और घड़े के आकार-प्रकार और उसमें स्वच्छ-अस्वच्छ जल के अनुसार प्रतिबिम्ब पड़ता है पर उससे सूर्य अनेक नहीं हो जाते। सूर्य तो एक ही होता है। उसका प्रतिबिम्ब पात्रों के अनुसार पड़ता है। कुछ लोग तर्क करते हैं कि यदि आत्मा एक ही है तो एक के दु:ख से सभी दु:खी हो जाने चाहिए और एक के सुख से सभी को आनन्दित हो जाना चाहिए। एक की भूल से सभी को भूल का शिकार हो जाना चाहिए और एक की मुक्ति से सभी को मुक्त हो जाना चाहिए। ऐसा अनुभव में आता नहीं। इसलिए आत्मायें अनेक सिद्ध होती हैं।

यह सत्य है कि व्यावहारिक जगत् में चिदाभासरूप जीवात्मा अनेक हैं। अन्त:करण में चिद्वस्तु (चेतन सत्ता) का आभास या प्रतिबिम्ब पड़ने से उसे आत्मा तो कहते हैं किन्तु जिस अन्त:करणरूपी शीशे में परम चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है उस अन्त:करण में ही मैल होने के कारण प्रतिबिम्ब स्वच्छ, निर्मल, शांत एवं पूर्ण नहीं पड़ता। इसलिए इस स्थिति में उसे आत्मा न कहकर जीवात्मा कहना ही उचित प्रतीत होता है। सुख-दु:ख, हानि-लाभ, भ्रान्ति एवं भूल अन्त:करण में ही होती है। इसलिए एक घड़े के प्रतिबिम्ब के गंदला हो जाने से सारे प्रतिबिम्ब गंदले नहीं हो जाएंगे। एक घड़े के फूट जाने से उसका प्रतिबिम्ब लुप्त हो जाएगा। सबके प्रतिबिम्ब लुप्त नहीं हो जाएंगे। एक के अहंकार का लय हो जाने से सबका अहंकार लय नहीं हो सकता। चिदाकाश (शुद्धात्मा) एक है और चिदाभास (जीवात्मा) अनेक हैं। व्यावहारिक स्तर पर अनेक चिदाभासों का खेल चलता रहता है। पारमार्थिक स्तर पर परमार्थ के साधक को सर्वत्र एक चिदाकाश या शुद्ध आत्मा का दर्शन होता है। भले ही जिनमें वह शुद्धात्मा देखता है वे सब अपना आत्मा मलिन होने के कारण अपने में और अन्यों में अलग-अलग जीवात्माओं का अस्तित्व मानते रहें।
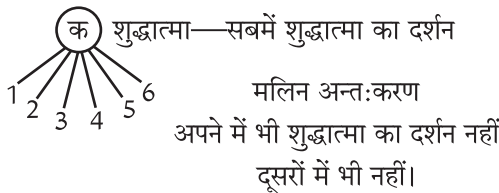
जो सूर्य की आँखों से सब घड़ों को देखेगा उसे सबमें अपना ही प्रतिबिम्ब दिखाई देगा।

सर्वभूतस्थमात्मानं। 6/29, गीता

किन्तु जो अलग-अलग घड़ों की दृष्टि से देखेगा उसे प्रतिबिम्ब अलग-अलग दिखायी देंगे और भ्रान्ति से सूर्य भी अनेक समझ बैठेगा।

आत्मा शब्द भाषा की लाचारी के कारण कभी शरीर के लिये प्रयोग हो जाता है, जैसे—आत्मरक्षा, आत्महत्या। कभी मन के लिए प्रयोग हो रहा है, जैसे—आत्मसम्मान, मान-अपमान। भगवद्गीता में कहते हैं—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन:। 6/5, गीता

यह आत्मा अर्थात् मन अपना आप ही बंधु है। अपना आप ही शत्रु है। यहां आत्मा शब्द मन के लिए प्रयोग हो रहा है। क्योंकि शुद्धात्मा अपना वैरी तो क्या किसी का भी वैरी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार कहीं आत्मा शब्द बुद्धि के लिए भी प्रयोग होता है। जैसे—आत्म समाधान। इसलिए अन्त:करण से युक्त आत्मा भले ही अनेक प्रतीत हो, किन्तु शुद्धात्मा एक ही है। जैसे नीली, पीली, लाल, हरी, बिजलियां। मेरे घर की बिजली, तेरे घर की बिजली, पतरातू की बिजली, दामोदर की बिजली आदि। सब भिन्न-भिन्न मानी जा रही हैं। किन्तु रंगों, रूपों, यंत्रों, कारखानों से परे जो शुद्ध विद्युत् है चाहे वह अंतरिक्ष में चमकने वाली बिजली हो, चाहे बल्बों में प्रकाशित होने वाली बिजली हो। चाहे हीटर, फ्रीज, मशीनों को, रेलगाड़ियों, टार्च बैटरी आदि को चमकाने वाली बिजली हो। वह सारे विश्व में एक ही है।

ज्यों-ज्यों अन्त:करण शुद्ध होता जाता है त्यों-त्यों जीव के अन्तर में स्वयं प्रकाश बढ़ता जाता है। यदि सब आत्मायें अलग-अलग होती तो योगी अपने शुद्ध अन्त:करण से दूसरों के मन की बात कैसे जान पाते? सामान्य जीवन में भी अनेक बार हमें हमारे अन्तर में अन्तर्यामी दूसरों के मन में उठने वाले भावों का पहले ही संकेत कर देता है। बुढ़िया माय की कथा हम सब जानते हैं। वह अपनी गठरी लेकर गांव जा रही है। रास्ते में घुड़सवार मिला। बुढ़िया माय चाहती थी घुड़सवार उसकी गठरी को गांव ले जाय वहां वह उसे ले लेगी। पर घुड़सवार ने इन्कार कर दिया और आगे बढ़ गया। तब अचानक बुढ़िया माय को होश हुआ वह घुड़सवार गठरी लेकर गायब भी हो सकता था। उसी समय घुड़सवार को लगा उसने गठरी को अस्वीकार कर गलती की। वह गठरी लेकर चम्पत हो जाता। वह पुनः वापस लौटकर बुढ़िया से क्षमा मांगता हुआ गठरी चाहता है, तब बुढ़िया ने कहा जिसने तुझे बोध दिया उसने ही मुझे भी दर्शा दिया। हमें स्वप्न में अनेक भावी घटनाओं का पूर्व संकेत भी मिल जाता है। मन को मन पहचान लेता है। आत्मा को आत्मा। इसलिए एक व्यक्ति के मन से वैर या द्वेष निकल जाने पर अपने आप दूसरों का मित्र बन जाता है। इसके लिए उसे मित्रता गांठने का प्रयास भी नहीं करना पड़ता। स्वामी रामतीर्थ के अमेरीका पहुंचने पर डॉ. हिलर ने उन्हें अपने आत्मीय बंधु या घर के स्वजन से भी अधिक मान-सत्कार किया। बिना पाई-पैसों के अपनी आत्मीयता के आधार पर सारे विश्व में उन्होंने प्रेम और सत्कार पाया।

अमेरीका का दार्शनिक थोरो शत्रुओं से भी आत्मीयता रखता था। इसलिए गिलहरियां उसके कंधों पर नाचती। मछलियां जल में स्नान करते समय हाथों में फुदकती रहती थी। इमर्सन यह दृश्य देखकर विस्मित हो गया। इमर्सन थोरो का मित्र व शिष्य था। थोरो ने कहा, तुम सब जीवों के प्रति वैरभाव त्यागकर शाकाहारी भोजन का व्रत लोगे तब मछलियों को तुमसे कोई भय नहीं होगा। चिड़िया गाय, भैंस की पीठ पर बैठ जाती है क्योंकि उसको उससे भय नहीं है। किन्तु मनुष्य के हाथ पर बैठने से हिचकती है। स्वामी रामतीर्थ टिहरी राज्य के

जंगलों में बर्बर शेरों का आलिंगन करते रहते। सबमें आत्मरूप का दर्शन करने वालों को भला भय कैसे हो सकता है? अपने आप से किसी को भय नहीं होता।

द्वितीयाद्वै भयं भवति।

भय दूसरे या परायों से लगता है।

गुरु नानकदेव कहते हैं—

न कोई वैरी ना कोई बेगाना, सकल संग हमरी बन आयी।

मानसिक दूरदर्शन द्वारा योग साधक अपने मन के भावों को दूर तक भेज सकता है और दूसरे के मन के भावों को दूरी के उपरान्त भी तुरन्त जान लेता है। आत्मा की (मूल चेतना की) एकता हुए बिना कौन-सी डोरी से हजारों मील दूर दो मनों में संचार सम्पर्क हो जाता है।

यदि चेतना की मूलभूत एकता न होती तो कभी भी दूसरे के भावों को जान न सकते और दूसरों को अपने व्यवहार से कभी भी सच्चा सुख या आनन्द नहीं दे सकते। हम जानते हैं कि कौन से व्यवहार हमारी आत्मा को प्रिय लगते हैं, वैसा ही व्यवहार हम दूसरों के प्रति करते हैं तो सारा संसार हमें अपना दिखाई देता है और हम सारे विश्व के मित्र बन जाते हैं। यदि आत्मा मूलभूतरूप में भिन्न-भिन्न होती तो हमारी सज्जनता के व्यवहार से भी दूसरे लोग हमारे वैरी बन जाते और नैतिकता का विश्वव्यापी मापदण्ड कोई न बन सकता। आत्माओं की अन्तर्भूत एकता ही नैतिकता को जीवित रखे हुए हैं। यदि हमें अत्याचार दुःख देता है तो दूसरों को भी दुःख देगा। यदि हम अन्याय नहीं चाहते तो हमें किसी के प्रति अन्याय नहीं करना चाहिए। यह नैतिकता की सबसे बड़ी कसौटी है।

यदि आत्मायें भिन्न होती तो कोई अन्याय सहने से दुःखी होता और कोई सुखी भी होता। कोई शाश्वत सुख को आदर्श मानता कोई शाश्वत दुःख को। कोई आत्मशोषण को भला मानता और कोई आत्मपोषण को।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहविदीन् महती विनष्टिः।

यदि इसी जीवन में ब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है, यदि इसी जीवन में नहीं जाना, तो बड़ी हानि है।

Self

सब दर्शन का मूल बिन्दु 'मैं' ही है। यदि मैं ही नहीं तो दर्शन का जिज्ञासु कौन है? द्रष्टा कौन है? प्रश्नकर्ता और समाधान का इच्छुक कौन है? सब दर्शन 'मैं' को मानकर या 'मैं' को सिद्ध करके आगे बढ़ते हैं।

मानवता की साधना का मूल बिन्दु मैं ही है। मैं जो कुछ पाना चाहता है जो भी उसके जीवन का लक्ष्य है उस लक्ष्य की ओर बढ़ने की चेष्टा कौन करेगा। यदि यात्री ही नहीं तो यात्रा कैसी? यदि ईश्वर प्राप्ति की साधना अनेक जन्मों में पूरी होने वाली है तो साधक को साधना के प्रारम्भ से अन्त तक रहना चाहिए। यदि साधक बीच में ही लुप्त हो जाए तो साधना निरर्थक और सिद्धि कल्पनामात्र रह जाएगी। यदि स्वर्णपदक प्राप्त करने के लिए दौड़ने वाले सभी धावक मार्ग में ही दम तोड़ जाएं तो पदक एवं प्रतियोगिता दोनों निरर्थक हो जाएंगे। अतः साधना के लिए भी साधक में 'मैं' का होना और सदा बना रहना अनिवार्य है।

सब जीवों में सबसे पहला और प्यारा नाम मैं ही है। संसार ने उन्हें कोई भी अलग-अलग नाम दिये हों और प्रकृति ने कितने भी भिन्न-भिन्न रूप दिए हों, किन्तु सब कोई अपने आपको मैं ही जानते और मानते हैं। मैं के बिना न जगत् का व्यवहार चल सकता है और न आध्यात्मिक चिन्तन या साधना। जब कोई व्यक्ति निकट है तो हम उसे यह कहकर सम्बोधन करते हैं। दूर होने पर वह कहकर सम्बोधन करते हैं। आमने-सामने उपस्थित होने पर तू कहते हैं। किन्तु किसी व्यक्ति को ये सब सर्वनाम आत्मीयता प्रदान नहीं कर सकते। उसका अपना नाम है मैं। जिसमें उसे प्रेम, आत्मीयता और आत्मगौरव का बोध होता है। जिस व्यक्ति का जैसा-जैसा विकास होता है वह इसमें वैसा-वैसा अर्थ लगा लेता है।

देहाध्यासी एवं आसुरी सम्पद वाले इस स्थूल शरीर को ही मैं मानकर इसी के अहंकार में निबद्ध रहते हैं। इसे वेदान्त दर्शन में देहाध्यास कहा जाता है—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।। 16/8, गीता

आसुरी प्रकृति वाले कहते हैं जगत् में सत्य की प्रतिष्ठा नहीं है। बिना ईश्वर के आधार के स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ शरीर केवल भोग भोगने के लिए है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।। 16/18, गीता

अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोध के परायण हुए, दूसरों की निन्दा करने वाले और अपने हृदय मन्दिर में और दूसरों के हृदय मन्दिर में स्थित परमेश्वर से द्वेष करने वाले, पापाचारी, क्रूरकर्मी-नराधामों को मैं संसार में आसुरी योनियों में तथा नीच कूकर-सूकर की योनि में पटक देता हूं।

कुछ लोग इन्द्रियों और इन्द्रियों के कार्यव्यापार को ही मैं मानते रहते हैं। इन्द्रियां शरीर का अंग होते हुए भी कुछ सूक्ष्म हैं। अतः उनकी शक्ति और व्याप्ति शरीर से अधिक है। भगवान् गीता में कहते हैं—मात्राओं का विषयों से स्पर्श शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि देने वाला, आने-जाने वाला तथा अनित्य अनुभव है। जो इनसे व्यथित नहीं होता वह तितिक्षापरायण पुरुष अमृतपद का अधिकारी बनता है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। 2/14, गीता

इन्द्रियध्यासी से ऊपर मनाध्यासी लोग हैं। जो मन को ही अपना मैं मानकर सब कार्य व्यवहार करते हैं। गीता में अर्जुन ने भगवान् के सामने निवेदन किया है कि मन बड़ा चंचल है जो पक्के, बलवान इरादे का भी मंथन कर डालता है। इसको बांधना तेज आए हुए तूफान को बांधने के समान कठिन है। अतः मन को मैं मानने वाला कभी स्थिर एवं शांत नहीं रह सकता। वह दुःख-सुख, हानि-लाभ के, निन्दा-स्तुति के द्वन्द्वमय थपेड़ों की मार सहता हुआ सदा मानसिक क्लेश भोगता रहता है। अन्तःकरण से संयुक्त आत्मा ही जीवात्मा कहलाता है। वही तीन ताप और पंचक्लेशों को भोगता है। वही सूक्ष्म शरीर के रूप में जीवनभर संकल्प-विकल्प करता है। कल्पना के पुलाव पकाता है। मन के मोदक खाता है। कल्पित इच्छाओं की पूर्ति के लिए स्वप्न लेता है। तथा शरीर के मर जाने के पश्चात् भी अपनी अतृप्त कल्पनाओं की पूर्ति हेतु अगले जन्मों में जन्म से ही वैसी प्रवृत्ति लेकर प्रकट होता है और पिछले जन्मों के कर्मों के फल भोगता है। यह अन्तःकरणयुक्त आत्मा ही व्यक्तिगत आत्मा है। जब हम दुरात्मा, पापात्मा, महात्मा, पतितात्मा, पवित्रात्मा आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो वह व्यक्तिगत जीवात्मा के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, शुद्धात्मा के अर्थ में नहीं। जब हम कहते

हैं कि उसकी आत्मा क्लेश पा रही है या भूखे को अन्न देने से उसकी आत्मा को बड़ा सुख मिलता है तो भी हम जीवात्मा की ही बात कर रहे हैं। यह जीवात्मा ईश्वर का ही अंश है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। 15/7, गीता

इस देह में जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इस त्रिगुणमयी माया में स्थित हो मन सहित पांचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है। जैसे सिन्धु का बिन्दु सिन्धु के जल का ही अंश है। किन्तु उसका छोटा रूप है और उसका नाम भी कल्पना से बिन्दु कहा गया है। किन्तु तत्त्वतः जल ही है। उसी प्रकार जीव कल्पित नाम, पंचभूत का शरीर, मन और इन्द्रिय सब कल्पित एवं आरोपित है। वह अहम् भाव से अपने को मैं कहता रहता है। इस अहंता के भाव से ही ममता का भाव पैदा होता है जिससे वह अपने सम्पर्क में आने वाली वस्तुओं और व्यक्तियों को मेरा-मेरा मानता रहता है। इस अहं भाव संयुक्त आत्मा को जीवात्मा कहा जाता है। यदि शुद्धात्मा शरीर की उपाधि में रहता है और उसमें मन और पंच-ज्ञानेन्द्रियां न होती तो जीवभाव कदापि प्राप्त न होता। जैसे सुषुप्ति काल में शरीर में आत्मा रहता है। इन्द्रियां और मन काम नहीं करते इसलिए जीवभाव लुप्त रहता है। जब पंच-ज्ञानेन्द्रियों और मन से नाना भोगों को भोगने का कार्य करता है तब उसे अनुभव होता है कि मैं भोक्ता हूं। यही जीवभाव है। यदि इन्द्रियां रहे और मन न रहे तब भी जीवभाव नहीं रहेगा। जैसे क्लोरोफार्म सुंघाकर मन को सुला दिया जाता है तब जीवभाव लुप्त हो जाता है। इसलिए मन को ही जीव का बंधन और मोक्ष का हेतु कहा गया है। मन ही विषयों के बंधन और मोक्ष का कारण है।

आत्मा सदा अखण्ड-एकरस है। अतः उसका कहीं आना-जाना, प्रवेश करना, निकलना आदि शब्दप्रयोग उचित नहीं बनता। यदि दस करोड़ घड़े बनाये जाएं तो तत्क्षण उनमें आकाश समा जाता है। किन्तु यह कहना अशुद्ध होगा कि आकाश उसमें प्रवेश कर गया या घड़ा फूटने पर आकाश निकल गया। आकाश सर्वत्र है, सर्वव्यापक है। अतः उसका प्रवेश और निकास सम्भव ही नहीं है। इसलिए आत्मा का शरीर में प्रवेश और शरीर से निकल जाना शुद्ध शब्दप्रयोग नहीं है। यह जीवात्मा का प्रवेश अथवा निकास कहा जा सकता है।

आकाश तो सर्वत्र ही है, आकाश में ही सारे कार्यव्यापार हो रहे हैं। आकाश में कुम्हार घड़े को बना रहा है। वैसे ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। आत्मा में ही या आत्मा की उपस्थिति में ही सारे जड़-चेतन का खेल चल रहा है।

भगवान् ने 15वें अध्याय के दसवें श्लोक में कहा है कि शरीर को छोड़ने वाले, शरीर के विषयों को भोगने वाले अथवा गुणों से युक्त इस जीव को मूढ़जन

नहीं देखते किन्तु ज्ञानीजन ही इसे देखते हैं। प्रश्न है कि ज्ञानीजन उस जीवात्मा को कैसे देखते हैं। निश्चय ही शरीर, इन्द्रिय और मन के क्रियाकलाप से वे अनुमान लगाते हैं कि इसके भीतर कोई चेतन तत्त्व है जो सब कार्य व्यवहार, अनुभव आदि करने में सहायक है। जब शरीर कुछ भी जानने में समर्थ नहीं रहता तब अनुमान लगाया जाता है कि जीवात्मा शरीर को त्याग कर चला गया। कृतात्मा और योगी ज्ञानचक्षु से इसको देखते हैं। स्थूल नेत्रों से जीवात्मा दिखाई नहीं देता। किन्तु ज्ञानचक्षु से इसके विषय में तर्क द्वारा निष्कर्ष निकाला जाता है। कृतात्मा वे लोग हैं जो शास्त्रों के अनुष्ठान से विद्या प्राप्त करके यम, नियम आदि साधन, गुरु सेवा, श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा अपने को विद्या का योग्यपात्र बनाते हैं। जो अज्ञानी अपने उद्धार के लिए योग अनुष्ठान नहीं करते वे आत्मघाती अकृतात्मा कहे जाते हैं। आत्मा के ज्ञान का योग करने वाला योगी अथवा ज्ञानयोगी कहा जा सकता है। इसके विपरीत अयोगी कहा जाएगा। कृतात्मा और योगी तो जीवों के शरीर की हलचल और अनुभूति को देखकर और मृतकों की हलचल और अनुभूति के समाप्त हो जाने को देखकर ज्ञानचक्षु से समझ लेते हैं कि जीवात्मा शरीर में है या निकल गया है। किन्तु जो अज्ञानी हैं वे जीवों के शरीर की हलचल और अनुभूति देखकर और मृतकों की हलचल और अनुभूति लुप्त होती जानकर भी जीवात्मा को न जानते हैं और न मानते हैं।

बुद्धि का अध्यास—जो कोई बुद्धि को ही अपना मैं मानते हैं वे मनध्यायी से ऊपर कुछ जरूर हैं। किन्तु वे विज्ञानमय कोश या आनन्दयमय कोश में ही बंधे रहते हैं। वे दार्शनिक विचारक बन सकते हैं, शास्त्री एवं पण्डित बन सकते हैं। किन्तु आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान से नीचे ही रहते हैं। उन्हें बुद्धि का अहंकार हो जाए तो वह भी ब्रह्मज्ञान के मार्ग में एक भारी बाधा बन जाता है। जैसे कर्तापन का अहंकार बंधन का कारण है उसी प्रकार ज्ञानी होने का अहंकार अज्ञान का कारण है। इस अवस्था तक जीव जीव ही रहता है। जीवात्मा शुद्धात्मा से अलग ही रहता है—

शुद्धात्मा की, निर्लिप्त-असंगात्मा की बड़ी महिमा गीता में गाई गई है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणोन हन्यते हन्यमाने शरीरे।। 2/20, गीता

यह अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, सर्वगत है, सनातन है। एकमात्र सत् वस्तु सृष्टि का चरम परम सत्य है। सबके अन्तर में रहते हुए भी निर्लिप्त है। यह ज्योतियों की ज्योति है। विभक्तों में अविभक्त, विषमों में सम है, द्वन्द्वों में निर्द्वन्द्व है, द्वैतों में अद्वैत है, क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ है, सृष्टि के तूल का मूल है, सब जीवों का जीवन है, सब भूतों का मूल बीज है, परिवर्तनों में अपरिवर्तनीय है,

नामों में अनामी है, रूपों में अरूप है, प्रकृति की परिधि का केन्द्र है, अजर-अमर अविनाशी है। यह सब साधनाओं की अन्तिम सिद्धि है और सारी अध्यात्म यात्रा का अन्तिम लक्ष्य है।

जब तक नाम-रूप के आवरण में लिप्त मन-बुद्धि-चित्त-अहंकाररूप अन्तःकरण चतुष्टय से युक्त मैं का भाव है तब तक यह शुद्धात्मा भी अनेक जीवात्माओं के रूप में भासता है। प्रत्येक जीव का नाम अलग और रूप अलग है। उसका अन्तःकरण और कर्मों का लेखा-जोखा अलग-अलग है। किन्तु शुद्धात्मा सारे विश्व का एक ही है। वह सब जीवों का निर्लिप्त, निर्विकार, असंग मैं-पने का भाव है। सब जीवों में पिरोया हुआ जो मैं है वही विश्वात्मा, जगतात्मा, सकलभूतान्तरात्मा, असंगात्मा, पवित्रात्मा व परमात्मा है।

आत्मा एक है अथवा अनेक है इस विषय पर दार्शनिकों में बड़ा शास्त्रार्थ चलता है। वे आपत्ति करते हैं कि यदि आत्मा एक ही है तो एक के मरने से सबको मर जाना चाहिए। एक के दुःख से सबको दुःखी होना चाहिए। वास्तव में देखा जाए तो मरना, जन्मना शरीर का धर्म है—आत्मा का नहीं। अतः शरीरों के मरने-जन्मने से आत्मा में कोई अन्तर पड़ता ही नहीं। अनेक शरीर बनें या मिट जाएं, आत्मा अखण्ड व एकरस है। जल में लाखों बुलबुले बनें या मिट जाएं जल तत्त्व का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। दुःखी-सुखी होना अन्तःकरण का धर्म है, आत्मा का नहीं। अतः एक के दुःखी-सुखी होने से सबके दुःखी-सुखी होने का तर्क यहां नहीं चल सकता। शास्त्रज्ञान या मूढ़ता बुद्धि का धर्म है। अतः एक के ज्ञानी होने से सब ज्ञानी नहीं हो सकते। एक के मूर्ख होने पर सब मूर्ख नहीं हो सकते। वास्तव में ज्ञान-अज्ञान का भेद अनेकता में ही रहता है और अनेकता स्वयं में बहुत बड़ा अज्ञान है। जब तक जीवात्मा भाव रहता है तब तक अनेकता, अज्ञान, कर्मफल भोग, पुनर्जन्म आदि त्रिगुणमयी माया का बंधन बना रहता है। ज्योंही जीव शुद्धात्मा की शरण में जाता है वह माया के भवसागर को पार कर आत्मानन्द-ब्रह्मानन्द का लाभ करता है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। 7/14, गीता

मेरी दैवी गुणमयी माया बड़ी दुस्तर है। किन्तु जो मेरी (शुद्ध मैं की) शुद्धात्मा की शरण में आ जाते हैं वे इसे तुरन्त पार कर जाते हैं।

आत्मतत्त्व

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरत् आत्म तत्वम्,
सच्चित्सुखं परमहंस गतिम् तुरीयम्।
यत्स्वप्न जागर्सुषुप्तमवैति नित्यम्,
तद् ब्रह्म निष्कलमहम् न च भूतसङ्घ।।

(1) प्रातःकाल मैं अपने हृदय में स्फुरण करने वाले आत्मतत्त्व (आत्मा, सच्चे अपने-आप, अपने सच्चे मैं) का स्मरण करता हूं। जो आत्मा हृदय में स्फुरण करता है, स्पन्दन करता है, प्रेरणा भरता है।

(2) आत्मा सदा सत् है।

(3) आत्मा चैतन्य रूप है।

(4) आत्मा सदा सुख रूप (आनन्द रूप) है।

(5) आत्मा परमहंस योगियों के लिए अंतिम गति है।

(6) आत्मा तुरीय (समाधि रूप) है।

(7) आत्मा स्वप्न, जागृत, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा है।

(8) आत्मा नित्य है।

(9) आत्मा अखंड ब्रह्मरूप है

(10) मैं वही आत्मा हूं।

(11) मैं, पंच महाभूतों का समूह, यह शरीर नहीं हूं।

(1) (क) हृदि संस्फुरत्—मैं (आत्मा) हृदय में स्पन्दन करता हूं। हृदय स्वयं स्फुरण नहीं करता। मृतक का हृदय धड़कना बंद क्यों हो जाता है? वही हृदय दूसरे व्यक्ति के शरीर में लगाने से कार्य करने लगता है। यंत्र ठीक है। किन्तु यंत्र के पीछे की शक्ति (आत्मा) विलग हो जाने से यंत्र बेकार हो जाता है।

(ख) हृदय=केन्द्र। मानव के केन्द्र में उसका आत्मा है। वही सच्चा मैं है। वही सच्चा मानव है। शरीर तो मात्र आवरण है।

(2) संस्फुरम = सत्ता, स्फूर्ति, स्पन्दन। आत्मा सदा सत् है। सत्—जिसकी सत्ता सदा रहे। जो काल के परे हो। आदि सत्यं युगादि सत्यं, भवति सत्यं, भविष्यति सत्यम्।

(3) आत्मा चैतन्य रूप है। प्रकाश रूप है, ज्ञान रूप है।

(4) आत्मा सुख स्वरूप है। आत्मानंद, निजानंद, परमसुख-परमशांति है।

(5) आत्मा परमहंस योगियों के लिए भी अन्तिम गति है।

अंतिम गंतव्य स्थान, अन्तिम लक्ष्य।

हंस = विवेक का प्रतीक। हंस नीर-क्षीर का विवेक करता है।

क्षीर रूप सत्नाम है, नीर रूप व्यवहार।
हंस रूप कोई साध है, तत् का छाननहार।।

परमहंस = जो सत्-असत् के विवेक के पश्चात् सत् में प्रतिष्ठ हो जावे।

(6) आत्मा तुरीय (समाधि) रूप है।

(7) आत्मा तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा है।

(8) आत्मा नित्य है, शाश्वत है।

(9) आत्मा अखण्ड ब्रह्म रूप है। निष्कल = अखंड

(10) अहं (मैं) वही आत्मा है।

(11) (क) मैं पंचभूतों (पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, आकाश) का समूह यह शरीर नहीं हूं।

(ख) शरीर मेरा अल्पकाल के लिए मिला हुआ सेवक है। यह मेरा यंत्र है। यह मेरा रथ है। मैं स्वामी हूं। मैं यंत्री हूं। मैं महारथी हूं।

यो वै भूमा तत्सुखम। नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम।।

छा. उ., 7/23/1

जो महान् है, 'भूमा' है, वही सुख है, अल्प में सुख नहीं रहता। महान् और सुख दोनों अभिन्न हैं।

हिन्दू धर्म की विशेषताएं

1. हिन्दू धर्म ईश्वर को सर्वव्यापी मानता है। अन्य धर्म मानता है कि ईश्वर केवल बहिश्त या हैवन में रहते हैं।
2. हिन्दूधर्म मानता है कि ईश्वर आत्म के रूप में हरेक जीव के हृदय में है। अन्य धर्म मानते हैं कि ईश्वर किसी के अंदर नहीं रहते। मनुष्येतर प्राणियों में तो आत्मा ही नहीं है।
3. हिन्दूधर्म जन्मान्तर को मानता है। अन्य धर्म नहीं मानते।
4. हिन्दूधर्म के अनुसार अपने सुख दुःख के लिए जीव के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मफल ही जिम्मेदार हैं।

   अन्य धर्म मानते हैं कि ईश्वर ने अकारण ही केवल अपने मनोविनोद के लिए जीवों को सुखी-दुःखी बना दिया।
5. हिन्दूधर्म गो हत्या को महापाप मानता है अन्य धर्म उसे पुण्य मानते हैं।
6. हिन्दूधर्म मोक्षप्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मानता है, स्वर्ग को नहीं। अन्य धर्म केवल मात्र स्वर्ग के सुख को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं।
7. हिन्दूधर्म के अनुसार मृत्यु के साथ-साथ ही जीव अपने-अपने कर्मानुसार स्वर्ग, नरक या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अन्य धर्म मानता है कि मृत्यु के बाद जीव यावत्चन्द्रदिवाकरौ कब्र में पड़ा रहता है।
8. हिन्दूधर्म मानता है ईश्वर की इच्छामात्र से ही जगत् की सृष्टि हुई है। अन्य धर्म मानता है पहले पृथ्वी की सृष्टि की उसके तीन दिन बाद सूर्य की सृष्टि की है। सिवाय सूर्य के दिन-रात कैसे बने?
9. हिन्दूधर्म में आत्मा को शुद्ध माना गया है। पाप-पुण्य मन का विषय है।

   अन्य धर्म जीवात्मा को जन्म से ही पापी मानता है।
10. हिन्दूधर्म के अनुसार ध्यानावस्थित अवस्था में ईश्वर का दर्शन करके मुक्त हो सकते हैं। ईश्वर स्वयं ही भक्त का उद्धार करते हैं। अन्य धर्म में खुदा को कोई नहीं देखता। पैगम्बर या ईश्वर के पुत्र के पास क्षमा मांगने पर वे ईश्वर से कह कर क्षमा दिलाएंगे। वहां भक्त से भगवान् का सीधा संबध नहीं है।

11. हिन्दूधर्म मानता है कि भक्तों की रक्षा, दुष्कृतकारी का विनाश एवं धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिए भगवान् स्वयं अवतार लेकर प्रगट होते हैं। किन्तु अन्य धर्म ऐसा मानते हैं कि ईश्वर का अवतार नहीं होता उनके पुत्र या पैगंबर आते हैं।
12. हिन्दूधर्म के अनुसार ईश्वर प्रत्येक जीव के परम पिता हैं और जीव उनके पुत्र हैं। किन्तु अन्य धर्म मानते हैं कि केवल यीशु ही ईश्वर का पुत्र है अन्य कोई नहीं।
13. हिन्दूधर्म का मत है जो पुण्य करेगा वही स्वर्ग में जायेगा, जो पाप करेगा वह नरक में जायेगा। अन्य धर्म का मत है कि जो पैगंबर को मानेगा वह उनकी सिफारिश से स्वर्ग में जायेगा और जो ईश्वर के पुत्र को नहीं मानेगा पुण्यकर्म करने पर भी वह नरक में जायेगा। आज से 2014 साल पहले बने हुए कायदे से करोड़ों वर्ष पहले जन्मे और मरे जीवों का विचार कैसे खुदा कर पाएंगे?
14. हिन्दूधर्म के अनुसार प्राणीहत्या पाप है। क्षत्रियों के लिए युद्ध करना पाप नहीं। सर्वसाधारण के लिए आत्मरक्षा के लिए आततायी को मारना पाप नहीं।

    अन्य धर्म में काफिर एवं हिडेनों को मारने से पाप नहीं।
15. हिन्दूधर्म में प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य। अन्य धर्मों में ब्रह्मचर्य पालन का कोई आदेश नहीं है।
16. हिन्दूधर्म सर्वेश्वरवाद को मानता है। ईश्वर में सब है और सब में ईश्वर है ऐसा मानता है।

    किन्तु अन्य धर्म एक ईश्वर को मानते हैं और वे सर्वत्र नहीं हैं।
17. हिन्दूधर्म देवताओं का पूजन करता है किन्तु ईश्वर के रूप में नहीं करता केवल भौतिक पदार्थ की प्राप्ति के लिए करता है।

    अन्य धर्म भी देवताओं के स्थान पर फरिश्ता, जिब्राइल एडोल्स वगैरह मानते हैं।
18. हिन्दूधर्म मूर्ति के माध्यम से ईश्वर की पूजा करता है। किन्तु अन्य धर्म मक्का के काबा केवलेश्वर (मक्केश्वर महादेव) को खुदा का स्वरूप मानकर पूजा करते हैं।

    'हिन्दुत्व भिन्न-भिन्न मत-विश्वासों समस्वर संगीत है, एक विविध रंगों के फूलों का गुलदस्ता है। अनन्त विविधरूपता के उपरान्त भी हिन्दुत्व एक है और उसने युगों से भारत को एक बनाये रखा है। हिन्दू भारत में धार्मिक एकता सदा से लेकर अभी तक उतनी ही सुदृढ़ है, जितनी की अन्य देशों में राजनीतिक एकता। हिन्दुस्तान के एक छोर से दूसरे छोर तक, उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम में इम्फाल से श्रीनगर तक और केदारनाथ से कन्याकुमारी तक, हिन्दुत्व ने सब प्रान्तों में एकसमान संस्कृति, एकसमान चरित्र और एकसमान धर्म विकसित किया है। चाहे कहीं रंग भिन्न हों, फिर भी अनिवार्य सारतत्त्व एक और अभिन्न ही है। रोम्यां रोलां

हिन्दू धर्म की महत्ता

1. हिन्दू धर्म संसार का प्राचीनतम एवं महत्तम धर्म है। वेद संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ है। हिन्दू धर्म का आधार ईश्वर की वाणी वेद ही है।
2. जहाँ ईसाई मत एवं मुसलमान मत केवल संप्रदाय मात्र हैं, हिन्दू ही केवल धर्म है। मानव मात्र के लिए पवित्र जीवन का संदेश देने वाला मानव धर्म है।
3. जहाँ ईसाई मत एवं मुसलमान मत ईसा तथा मुहम्मद नामक व्यक्तियों द्वारा प्रारम्भ किये हुए हैं, हिन्दू धर्म शाश्वत एवं सनातन है। वह किसी व्यक्ति द्वारा प्रारम्भ नहीं किया गया। अतः किसी महापुरुष के होने या न होने से इस धर्म का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।
4. हिन्दू वह है जो इस देश भारत को ही अपनी जन्मभूमि, पितृ-भूमि, पुण्यभूमि एवं अपना सर्वस्व मानते हैं। यही उसके हेतु धर्म और कर्म की भूमि है। हिन्दू का भारत से जन्म, मरण एवं जन्मान्तर का भी संबंध है। हिन्दू मात्र की समूची श्रद्धा भारत के भीतर ही है। भारत के बाहर कहीं नहीं। मुसलमान की पुण्यभूमि भारत नहीं अरब देश है तथा ईसाइयों के लिए येरूशलम पुण्यभूमि बन जाती है, भारत नहीं। इस तरह भारत में रहते हुए भी अहिन्दुओं की श्रद्धा भारत के बाहर चली जाती है। इसीलिए वे पाकिस्तान के नाम पर देश के टुकड़े करते हैं तथा नागालैण्ड और छोटानागपुर को अलग ईसाई राज्य बनाकर भारत को खण्ड-खण्ड करना चाहते हैं।
5. हिन्दू धर्म पूर्णतया स्वदेशी धर्म है। इसकी सभी शाखाएँ भारत में ही जन्मी तथा फली-फूली हैं। अतः हिन्दू धर्म ही भारत का धर्म है। इसी के उत्थान से भारत का उत्थान होगा।
6. हिन्दू धर्म की सभी शाखाएँ इस सत्य में विश्वास रखती हैं कि आत्मा अजर-अमर और अविनाशी है।
7. सभी हिन्दू कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं। मनुष्य जो अच्छा-बुरा कर्म करता है, उसके अनुरूप परमेश्वर द्वारा उसका फल मिलता है।

8. हिन्दू मात्र मोक्ष या मुक्ति या निर्वाण को जीवन का चरम लक्ष्य मानता है।
9. हिन्दू गायत्री मंत्र के द्वारा अपनी बुद्धि को उज्ज्वल बनाने के लिए प्रार्थना करता है।
10. हिन्दू सारे संसार भर को अपना कुटुम्ब मानकर, सब को प्रभु की संतान मानकर सबके कल्याण के लिए नित्य प्रार्थना करता है। वह अहिन्दुओं के समान किसी को 'काफिर' या 'नास्तिक' कहकर गाली नहीं देता।

अतः सभी जीव मात्र का कल्याण चाहने वाला, किसी से घृणा नहीं करने वाला, यह विश्वव्यापी महान् हिन्दू धर्म ही सब धर्मों की माता है, सच्चा मानव धर्म है, आधुनिक काल में स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी योगानंद इत्यादि महापुरुषों ने यूरोप तथा अमरीका में भी इसी महान् हिन्दू धर्म के विजय के डंके बजाए तथा अनेक यूरोपियन एवं अमरीकन लोगों को भी इस महान् हिन्दू संस्कृति का अमृत पिलाया।

इस महत्तम धर्म का पालन करके हम पुनः इस हिन्दू धर्म के पावन संदेश से दुःखी मानवता को शान्ति प्रदान कर अपनी खण्डित मातृभूमि के अखण्ड सौभाग्य का निर्माण कर सकते हैं।

क्या अद्भुत देश है यह! इस पुण्य भूमि पर चाहे जो खड़ा हो—वह इस भूमि का पुत्र हो अथवा विदेशी—यदि उसकी आत्मा दुर्दान्त पशुओं के स्तर तक नहीं गिर चुकी है—तो वह स्वयं को पृथ्वी के इन श्रेष्ठतम एवं शुद्धतम पुत्रों के तेजोमय विचारों से घिरा हुआ अनुभव करेगा, जो शताब्दियों तक पशु को देवत्व के शिखर तक उठाने के लिये कार्य करते रहे हैं और जिनका आरम्भ खोजने में इतिहास भी असफल रहा है। यहाँ का वायुमण्डल ही आध्यात्मिकता की तरंगों से ओत-प्रोत है।

—स्वामी विवेकानन्द

विज्ञान से गति और अध्यात्म से संयम

विज्ञान ने हमें गति दी है। जो समाचार एक गांव से दूसरे गांव, देश के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में, एक देश से दूसरे देशों में पहुंचने में कई दिन-महीनों या सालों लग जाते थे और उस समय तक उस समाचार पहुंचाने का प्रयोजन ही समाप्त हो जाता था, आज विज्ञान के कारण चन्द क्षणों में पहुंचा सकते हैं और प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं।

एक गांव से दूसरे गांव जाने में या दक्षिण भाग से उत्तर भाग जाने में महीनों या सालों लग जाते थे वहां अब हम कुछ घंटों में पूरा भारत भ्रमण कर सकते हैं।

अतः विज्ञान की बहुत बड़ी देन या वरदान या उपलब्धि है कि उसने हमारे जीवन को गति दी है। हमारे जीवन को बहुत Fast कर दिया है।

विज्ञान के कारण ही आज छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य समाप्त हो गए हैं और बड़े-बड़े राष्ट्रों का जन्म हुआ है। विज्ञान के अभाव में देश में प्रशासन नहीं किया जा सकता।

पहले एक राज्य में हुई घटना का समाचार दूसरे राज्य को या तो मिलता ही नहीं था या मिलता था तो बहुत विलम्ब से (महीनों या सालों में) मिलता था। फलतः उसका प्रयोजन ही समाप्त हो जाता था। पर आज विज्ञान के कारण विश्व के एक भाग में हुई घटना की जानकारी कुछ ही समय में सम्पूर्ण विश्व में फैल जाती है। विज्ञान के कारण एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के निकट आ पाया है।

इस प्रकार विज्ञान ने जीवन को गति दी है पर इसने संयम नहीं दिया। संयम के अभाव में गति दुर्गति न बन जाए, गति विगति या अपगति न बन जाए। जैसे मोटर गाड़ी में और सब कुछ हो पर ब्रेक न हो तो उस मोटर गाड़ी का क्या हाल होगा? यह सहज ही समझा जा सकता है। अतः संयम के अभाव में विज्ञान हमें सर्वनाश की ओर ले जाएगा। संयम आध्यात्मिकता से मिलता है। अतः जीवन में गति विज्ञान से और संयम अध्यात्म से प्राप्त करना चाहिए।

पूर्व और पश्चिम के दर्शन में दृष्टिभेद

पूर्व	पश्चिम
1. मुक्त वातावरण में दर्शन का जन्म। धर्म से इसका विरोध या सम्बन्ध नहीं।	1. पश्चिम का दर्शन एक समय तक चर्च का Hand bag फिर राजनीति का। दर्शन के क्षेत्र में जिन्होंने भी बाइबिल से भिन्न विचार रखे बहिष्कृत हुआ।
2. समाज के रंग में दर्शन का समावेश है।	2. यहां दर्शन सिर्फ दार्शनिकों तक सीमित।
3. दर्शन ज्ञान का समस्त स्रोत एवं अन्तिम ध्येय है।	3. अध्ययन के अनेक विषयों में एक विषय है।
4. दर्शन के अनुकूल जीवन पद्धति अपनाने का प्रयास।	4. थोड़ी-सी चोट में सारा दर्शन भूल जाते हैं।
5. आन्तरिक खोज	5. बाह्य खोज
6. मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार	6. सिर्फ Mind
7. आत्मा की तीनों अवस्था जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति पर विचार	7. सिर्फ जाग्रत् पर विचार
8. तुरीय पर विचार	8. यहां नहीं।
9. सुषुप्ति नयी स्फूर्ति देती है।	9. इस पर विचार नहीं।
10. सहकार और समन्वय ही जीवन है	10. संघर्ष ही जीवन है। योग्यतम का विजय, जिसकी लाठी उसकी भैंस।
11. पूर्वी सभ्यता केन्द्र की ओर ले जाने वाली है।	11. पश्चिमी सभ्यता केन्द्र से दूर ले जाने वाला, परिधि में भटकाने वाली है।
12. पूर्वी सभ्यता विधायक है।	12. पश्चिमी सभ्यता विनाशक है।
13. पूर्वी सभ्यता जोड़ने वाली है।	13. पश्चिमी सभ्यता तोड़ने वाली है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण : भारतीय दृष्टिकोण

पाश्चात्य दृष्टिकोण	भारतीय दृष्टिकोण
1. भौतिक दृष्टिकोण	1. आध्यात्मिक दृष्टिकोण।
2. शरीर सुख को ही सर्वस्व मानते हैं।	2. शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा—इन चारों का सामूहिक विचार करते हैं।
3. काम (वासना-पूर्ति) और अर्थ (धनार्जन)-ये दो विचार प्रधान हैं।	3. धर्म, अर्थ काम और मोक्ष—इन चार प्रकार के पुरुषार्थों का विचार रखते हैं। उनमें अर्थ और काम को धर्म नियंत्रित रखता है।
4. भोगवादी धनी सम्मान पाता है।	4. त्यागी और संयमी सम्मान पाता है। त्यागी-संन्यासी सबका पूज्य है।
5. अपने ही सुख का विचार।	5. दूसरों के सुख को प्रधानता दी गई है।
6. संग्रही वृत्ति।	6. अपरिग्रह।
7. खंडशः पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है।	7. एकात्म दृष्टि से समग्र विचार किया जाता है।
8. सामान्यों का शोषण होता है।	8. अंत्योदय ध्येय है।
9. अधिकार-रक्षण में दक्षता है।	9. कर्तव्यपालन में निष्ठा।
10. प्रकृति का शोषण, प्रकृति के विनाश की चिंता न करके अधिक से अधिक लाभ प्राप्ति।	10. प्रकृति का दोहन (प्रकृति को विनाश से बचाकर संयमपूर्वक लाभ-ग्रहण)
11. व्यक्ति, समाज और प्रकृति में संघर्ष को अनिवार्य मानना।	11. व्यक्ति, समाज और प्रकृति में सामंजस्य स्थापना का यत्न करना।

12. स्वार्थपरता से समाज में विषमता की सृष्टि।	12. समाज में समता और समानता की स्थापना के प्रयास।
13. क्षणिक सुख द्वारा तृप्ति।	13. शाश्वत-सुख की तृष्णा।
14. स्त्री उपभोग्य वस्तु है।	14. स्त्री मातृवत् पूज्य है।
15. माता के अतिरिक्त अन्य सब स्त्रियां विवाह करने योग्य हैं।	15. पत्नी के अतिरिक्त सब स्त्रियां मातृवत् आदरणीय हैं।
16. बाइबिल, कुरान आदि का जो प्रमाण नहीं मानते, वे नरक को जाते हैं।	16. प्रत्येक के लिए मुक्ति सुलभ है क्योंकि सब संप्रदाय निर्विशेष ईश्वर के अंश हैं।
17. विधर्मियों से द्वेष करते हैं।	17. सर्वधर्म समादर।
18. प्रोटैंस्टैंट कैथोलिक, शिया सुन्नी आदि इनके मध्य संघर्ष।	18. एक ही परिवार में विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी रहते हैं।
19. छल-कपट, शस्त्र आदि की सहायता से धर्म प्रचार।	19. सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर मत परिवर्तन।
20. अधिक से अधिक लोगों द्वारा अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति का ध्येय है।	20. सभी सुखी हों—यह ध्येय है।
21. आर्थिक क्षेत्र में अपने ही लाभ का विचार प्रमुख।	21. दूसरों के सुख-सुविधार्थ प्रयास।
22. कृत्रिम अभाव बनाकर अपने लाभ को बढ़ाने का प्रयास।	22. विपुल उत्पादन-सबके लाभ की चिंता।
23. बढ़ती हुई कीमत को आधार बनाने वाला अर्थ-चिंतन।	23. स्वल्प मूल्य से अधिकतम लोगों का लाभ।
24. एकाधिपत्य स्थापना के प्रयास (संदर्भ-पेंटेट, कापीराइट, ट्रेडमार्क आदि)	24. विपणन में मुक्त स्पर्धा।
25. वेतनभोगी कर्मचारियों पर आधारित व्यवस्था।	25. स्वावलंबन पर आधारित व्यवसायों को प्रोत्साहित करने वाली व्यवस्था।

पश्चिम सभ्यता की प्याली है और भारत संस्कृति का पालना

संस्कृति जीवन के आदर्शों का विकास है जबकि सभ्यता जीवन के साधनों का विकास है। बाहर की खोजों द्वारा पश्चिम ने जीवन को अधिक सुविधाजनक और साहसी बनाया है। भारत ने आन्तरिक परिष्कार के द्वारा मानव को अधिक श्रेष्ठ, पवित्र एवं महान् बनाने में अधिक योग्यता दिखाई है।

भारतीय संस्कृति के प्रतीक भगवान् बुद्ध हैं जो त्याग और आत्म-विजय के आदर्श हैं। इसकी तुलना में पश्चिम के गौरव का प्रतीक यूनानी राजा युलिसिस है जो द्वीप जीतने के अभियान में लड़ते-लड़ते मर गया। भारत में अशोक इसलिये महान् हुआ कि उसने राज्य सत्ता त्याग दी और भिक्षु बन गया। किन्तु पश्चिम में सिकन्दर, सीजर और नेपोलियन को इसके लिए महान् माना गया क्योंकि वे सत्ता और वैभव के भूखे थे। भारत की महानता दान में है और पश्चिम की बहादुरी लूट-खसोट में। विश्व शान्ति की समस्या पर प्रकाश डालते हुए प्रो. ओबराय ने कहा, 'बिना मन की शान्ति (योग साधना) और घर की शान्ति (पवित्र गृहस्थ धर्म) के विश्व शान्ति असम्भव है। पश्चिम में भी कुछ गुण है। परिश्रमशीलता, साहसिकता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और नागरिक मूल्य जो भारतीय को अवश्य सीखने चाहिये। परन्तु सच्ची मानव संस्कृति के लिये नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्व भारत द्वारा ही दिये जा सकते हैं जो संस्कृति के क्षेत्र में परम्परा से जगद्गुरु रहा है।

भारत परलोकवादी है और पश्चिम इहलोकवादी। भारतीय संस्कृति के चार आदर्शों में से भारत ने धर्म और मोक्ष का अधिक चिन्तन किया है और पश्चिम ने अर्थ और काम का अधिक विचार किया है किन्तु धर्म के बिना पश्चिम में अर्थ अनर्थ का, काम—भोग एवं रोग—का कारण बन रहा है।

भारतीय संस्कृति की महत्ता

1. संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है।

भू-खण्ड राष्ट्र का देह है। भाषा उसकी वाणी है, सभ्यता उसका शृंगार है। कलाएं उसका सौन्दर्य है। साहित्य उसकी दृष्टि है। विज्ञान उसका वैश्विक शोध है। अर्थ उसका भंडार है। संस्कृति उसकी आत्मा है। संस्कृति के बिना बाकी सब निष्प्राण हो जाएगा।

इकबाल का कथन—'यूनानो मिस्र रोमा सब मिट गए जहां से' इसमें उन देशों के भूखण्ड अभी तक वर्तमान हैं, किन्तु उनकी संस्कृतियाँ मिट गयी।

2. पश्चिम में राष्ट्र राजनीतिक इकाई से बनता है। यूरोप में रूस से आयरलैण्ड तक संस्कृति लगभग समान किन्तु बीसियों राष्ट्र। और नया राष्ट्र बनने की सम्भावना सदा बनी रहती है। भारत में 1947 तक ही ब्रिटिश शासन के अतिरिक्त साढ़े पांच सौ रियासतें थीं, मारवाड़, मेवाड़, चोल, चालुक्य सदा आपस में लड़ते रहते थे। राज्य अनेक थे, किन्तु संस्कृति एक होने के कारण राष्ट्र एक है।

3. भाषाएँ बाँटती है, संस्कृति जोड़ती है, राजनीति तोड़ती है, संस्कृति जोड़ती है, जातियां बाँटती हैं संस्कृति जोड़ती है। वर्ण, आश्रम, जाति-उपजाति, प्रदेश, वेश-भूषा, आर्थिक स्तर इत्यादि को संस्कृति ने जोड़कर रखा है। राष्ट्र की एकता का स्वर्णिम सूत्र संस्कृति ही है। यह सूत्र टूटते ही भारत खण्ड-विखण्ड हो जाएगा।

4. संस्कृति के स्वर्णिम सूत्र ने भारत को जगत-गुरु के सिंहासन पर बिठाया है। यदि समस्त दक्षिण-पूर्व, उत्तर एशिया के पचासों देश भारत को पूज्य भूमि मानकर भारत के कपिलवस्तु, गया, हरिद्वार की धूलि को मस्तक पर चढ़ाते हैं। यदि फिजी, गियाना, मारीशस, सूरीनाम ट्रिनीडाड के लोग गंगा स्नान के लिए हजारों मील दूर से भारत यात्रा पर आते हैं तो केवल सांस्कृतिक संबंधों के कारण। यदि इंडोनेशिया के मुसलमान रामलीला एवं कृष्ण लीला को राष्ट्रीय महोत्सव के रूप में मनाते हैं, अपने यहां सबसे पहले अन्तरराष्ट्रीय रामायण सम्मेलन रखते हैं तो भारत के प्राचीन सांस्कृतिक संबंधों के कारण ही। यदि भारत अपनी संस्कृति को त्याग देगा तो भारत को गुरु मानने वाले सभी शिष्य देश भारत को नमस्कार करने के

स्थान पर तिरस्कार करेंगे। भारत अपनी संस्कृति को खोकर भारत खण्ड खण्ड हो जायेगा और विदेशों में तिरस्कृत एवं वांछित अपने ही देश भारत में परस्पर पराये हो जायेंगे और विदेशों में परम्परागत श्रद्धा के स्थान पर दुत्कार भरी ठोकरें ही मिलेगी।

5. संस्काराः परिष्कारः मानवमानसशोधकाः।
तेषां परम्परा श्रेष्ठा संस्कृतिरित्यमिधीयते।।

मानव मन का परिष्कार करने वाले कृत्यों का नाम ही संस्कार है। इन संस्कारों की दिव्य परम्परा ही संस्कृति कहलाती है।

प्रकृति, विकृति, संस्कृति। दूध प्रकृति है। उसे प्रकृति की ही दया पर छोड़ देने से उसमें विकृति आ जाती है। उसका संस्कार करने पर (कपड़े से छानना, उबालना), उसमें घृत निर्माण होता है, जिसमें विकृति की सम्भावना नहीं रहती है। संस्कृति च्युत पूर्ण मानव को अच्युत बना देती है, ये नर को पशुत्व से नरत्व, देवत्व और नारायणत्व की तक विकास करती जाती है।

6. संस्कृति एवं सभ्यता

सभ्यता जीवन का श्रृंगार है, किन्तु संस्कृति जीवन का सार है। सभ्यता जीवन के साधनों का विकास है और संस्कृति जीवन के आदर्शों का विकास है। मानव एवं राष्ट्र के पूर्णमय विकास के लिए अनिवार्य जीवनमूल्यों की परम्परा ही संस्कृति है।

7. पुरुषार्थ चतुष्ट्य है।

अनेक जीवनमूल्यों में चार महान् जीवनमूल्यों में सभी अन्य गौण आदर्श एवं मूल्य समाहित हो जाते है। ये हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। ये ही भारतीय संस्कृति के चार महानतम आदर्श हैं। यही मानव जीवन के लक्ष्य हैं—

(क) काम—काम हमारा मनोवैज्ञानिक आदर्श है, जिसमें धर्म की मर्यादाओं में रहते हुए सांसारिक सुख-कामनाओं की प्राप्ति को उचित महत्त्व दिया गया है। बिना धर्म के अंकुश के काम भी व्यभिचार बन जाता है।

धर्म विहीनम् कामम् भोगम्।
संयम् हीनम कामम् रोगम्।

(ख) अर्थ—'अर्थ हमारा आर्थिक और राजनैतिक आदर्श है, जिसमें धर्म पर चलते हुए धन-धान्य की प्राप्ति, राज्य की वृद्धि एवं समृद्धि को उचित महत्त्व दिया गया है। बिना धर्म के अर्थ अनर्थ हो जाता है।

धर्म विहीनम् अर्थ अनर्थम्।
यज्ञविहीनम् अर्थ व्यर्थम्।।

अर्थात् पाप की कमाई का पैसा अनर्थकारी होता है और समाज कल्याणरूपी यज्ञ में समर्पण किये बिना अर्थ व्यर्थ होता है। डाकू का पैसा अनर्थ है, कंजूस का पैसा व्यर्थ है। अर्थ न अनर्थ होना चाहिये, न व्यर्थ। अर्थ सार्थक तभी होता है, जब धर्म के द्वारा कमाया जाय और यज्ञ भावना से धर्मार्थ लगाया जाय।

धर्म—धर्म हमारा नैतिक आदर्श है, जिसमें शरीर से लेकर ब्रह्म पर्यन्त समस्त कर्तव्यों की विधिवत परिपूर्ति पर बल दिया गया है। ये धर्म या ऋतम् हमारे भारतीय जीवन के ताने-बाने का केन्द्रीय तन्तु है। इसका चारों पुरुषार्थों में महत्त्वपूर्ण योगदान है। धर्म की मर्यादा में काम और अर्थ शुभ कल्याणकारी होता है।

(घ) मोक्ष—यह हमारा आध्यात्मिक आदर्श है, जिसमें हम अपने यथार्थ आत्म स्वरूप का, आत्म-ब्रह्म ऐक्य का अनुभव प्राप्त करते हैं।

काम मनोवैज्ञानिक आदर्श है, अर्थ हमारा आर्थिक एवं राजनैतिक आदर्श है। धर्म नैतिक आदर्श है, मोक्ष आध्यात्मिक आदर्श है।

इहलोक में समुत्कर्ष और परलोक में परम निश्रेयस् दोनों की प्राप्ति भारतीय संस्कृति द्वारा अभीष्ट हैं। हजारों वर्षों के झंझावातों के उपरान्त भी इस संस्कृति की परिपूर्णता, वैज्ञानिकता, मनोवैज्ञानिकता, सामाजिकता, नैतिकता और आध्यात्मिकता को कोई भी कलम का धनी चुनौती नहीं दे सका और तलवार का धनी नष्ट नहीं कर सका। इसी मृत्युंजय संस्कृति के कारण ही आज तक भारत बना हुआ है।

स्वामी रामतीर्थ और भारत एक है

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—मैं हँसता हूँ तो भारत हँसता है, मैं रोता हूँ तो शताब्दियों का दुःख, पीड़ा, अपमान घनीभूत होकर मेरे द्वारा अभिव्यक्त होता है। स्वामी रामतीर्थ भारत के साथ एकात्म थे।

× × ×

यदि इस पृथ्वी तल पर ऐसा कोई देश है, जो मंगलमयी पुण्यभूमि कहलाने का अधिकारी है, ऐसा देश, जहाँ संसार के समस्त जीवों को अपना कर्मफल भोगने के लिये आना ही है—ऐसा देश जहाँ ईश्वरोन्मुख प्रत्येक आत्मा का अपना अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने के लिये पहुँचना अनिवार्य है, ऐसा देश जहाँ मानवता ने ऋजुता, उदारता, शुचिता एवं शांति का चरम स्पर्श किया हो—तथा इन सबसे आगे बढ़कर भी जो देश अन्तर्दृष्टि एवं आध्यात्मिकता का घर हो—तो वह देश भारत ही है। **—स्वामी विवेकानन्द**

स्वतन्त्रता के सांस्कृतिक आधार

सृष्टि के आदि-ग्रन्थ वेद ने गाया—'वयं जागृयाम पुरोहिताः।' (वाः संहिता 9/23) अर्थात् हम राष्ट्र हितैषी सदा राष्ट्र में जागते रहें। यह जागृति ही स्वतंत्रता का मूल्य है।

भगवान् मनु

मानवता के आदि पुरुष भगवान् मनु ने कहा है—'सर्वं परवशं दुःखं, सर्वं आत्मवशं सुखं'—अर्थात् सब परवशता ही दुःख है और सब आत्मवशता ही सुख है। यह सूत्र आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से एक महान् सत्य की उद्घोषणा करता है। यदि कोई व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र अथवा किसी अन्य के वश में जीता है तो उस परवशता से बड़ा कोई अन्य दुःख नहीं है। इसीलिये हर व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र स्वाधीनता के परम सुख के लिये साधना करता रहता है। आध्यात्मिक दृष्टि से जो व्यक्ति अपने सच्चे 'मैं' के स्वरूप को भूल कर शरीर और मन, इन्द्रियों के द्वारा जड़ प्रकृति के नश्वर विषय-भोगों का दास बना रहता है, वह भी जड़ वस्तुओं की परवशता के कारण गुलामी का दुःख भोगता है। इसीलिए विचारवान मुमुक्षुजन आत्मस्वराज्य, आत्मोपलब्धि, आत्म-साक्षात्कार अथवा मोक्ष के परम सुख के लिये साधना करते रहते हैं।

भगवान् राम और भगवान् कृष्ण भारत के परम्परा प्रतिष्ठित राष्ट्रपुरुष रहे हैं। जहाँ भगवान् राम ने हिमालय के तुषार-मंडित हिमशिखरों से ले कर कल्लोल-नृत्यकारी तरंगों के मध्य स्थित सुवर्णद्वीप लंका तक उत्तर एवं दक्षिण भारत को एक कर दिया, वहाँ भगवान् कृष्ण ने प्राग्-ज्योतिषपुर (गुवाहाटी) को नरकासुर की पराधीनता से मुक्त कर, मगध के जरासंध को भीम द्वारा मरवा कर, भारत के हृदय देश में कंस एवं दुःशासन का मर्दन कर, सिन्धुराज जयद्रथ का अर्जुन द्वारा ग्रीवोच्छेदन करवा कर पश्चिम के कालयवन आदि विदेशी आक्रान्ताओं के संभाव्य आक्रमणों को निर्मूल करने के हेतु पश्चिमी समुद्रतट पर द्वारिका जैसी सुदृढ़ राजधानी बसा कर भारत के पूर्व से लेकर पश्चिम तक को स्वाधीन एवं भयमुक्त कर भारत को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में पिरो दिया।

भगवान् राम

भगवान् राम ने जहाँ उत्तरापथ और दक्षिणापथ को विंध्याचल के ऊपर के आर्यावर्त्त और विंध्याचल के नीचे वाले दंडकवन, वानर देश, गौडं देश एवं द्रविड़ देश को, आर्य एवं अनार्य सभी को एक सुदृढ़ राष्ट्रीय एकता से बांध कर एक चमत्कार किया, वहाँ उन्होंने राष्ट्र भक्ति, राष्ट्र मुक्ति एवं लोकतन्त्र तथा लोकमंगल की ऐसी आदर्श मर्यादायें स्थापित की कि आज तक हम रामराज्य के स्वप्न को पुनः साकार करने के लिए तरसते रहते हैं। लंका विजय के पश्चात् भगवान् राम को लक्ष्मण का लंका में ही बस कर राज्य चलाने के सुझाव के उत्तर में जो देश भक्ति का सूत्र दिया वह आज तक हमारी राष्ट्र भक्ति का महामंत्र बना हुआ है।

अपि स्वर्णमयी लंका, न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्म भूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी।।

अर्थात्

स्वर्णमयी लंका भी लक्ष्मण, तनिक न मुझको है भाती,
जननी जन्मभूमि तो मेरी, सौ स्वर्गों से भी ऊँची।

इसी राष्ट्रप्रेम के मंत्र से अभिमंत्रित हुए भारत के देशभक्त बालक आज तक गाते हैं—

स्वर्णमयी लंका न मिले माँ, अवधपुरी की धूल मिले।
सोने में कांटे चुभते हैं, मिट्टी में है फूल खिले।।

लंका-विजय के पश्चात् भगवान् राम ने राज्याभिषेक के प्रसंग पर प्रजाजनों को अत्यन्त उदार, लोकतन्त्र-निष्ठ वाणी में कहा—'जो अनीति कहु भाषौ भाई, तौ मोहि बरजहु भय बिसराई।'

एक चक्रवर्ती सम्राट द्वारा सामान्य प्रजाजनों को खुलेआम यह अधिकार देना कि यदि वह भूल से कभी अनीति का शब्द बोल दे अथवा अनीति पूर्ण कर्म करने लगे तो प्रजाजन निर्भय हो कर सम्राट को भी वर्जित कर दें, एक बहुत बड़ा लोकतान्त्रिक आदर्श है। इसकी तुलना में इन्दिरा गांधी के तानाशाही शासन का चित्र बड़ा विचित्र है।

जो अनीति कुछ भाषौ भाई। मत बरजहुँ, न तु करूं पिटाई।
जो पीड़ा में करे रुलाई। मीसा, डी. आई. आर. हूं लाई।

लोकरंजन के आदर्श के लिये राम कितना बड़ा त्याग करने को प्रस्तुत हैं, इसे महाकवि भवभूति ने अपनी अमर लेखनी के स्पर्श से एक राष्ट्रीय आदर्श बना दिया है।

स्नेहं दयां च सौख्यं च, यदि व जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य, मुंचतो नास्ति मे व्यथा।।
स्नेह, दया और सौख्य सभी कुछ, प्राणवल्लभा सीता भी।
लोकाराधन हेतु त्यागने में, मुझको न तनिक व्यथा।।

भगवान् श्री कृष्ण

भगवान् श्री कृष्ण, जिनका जन्माष्टमी पर्व स्वाधीनता पर्व की पूर्व संध्या को है, वे हमारे राष्ट्र के महानतम मुक्तिदाता राष्ट्रपुरुष होने के साथ-साथ सारी विश्व-मानवता के लिये आध्यात्मिक मुक्तिदाता भी हैं। उन्होंने अपने जीवनकाल में देश को आततायी शासन से मुक्त करने हेतु जीवनभर संघर्ष किया और धर्म की रक्षा के लिये महाभारत के विश्वयुद्ध का सफल संचालन किया। महारथी अर्जुन को राष्ट्रीय स्वाधीनता हेतु धर्मयुद्ध के लिये प्रेरित करते हुए वे कहते हैं—

हतो वा प्राप्यसि स्वर्गम्, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मात् उत्तिष्ठ कौंतेय, युद्धाय कृत निश्चयः।। गीता 2/37
मर जाने पर स्वर्ग मिलेगा, जय होने पर भूतल राज।
इसीलिये तुम खड़े हो अर्जुन, निश्चय लड़ो धर्म के काज।।

एकादश अध्याय में अपना विराट् रूप दर्शन करवाने के पश्चात् भगवान् अर्जुन के निमित्त से पूरे राष्ट्र को राष्ट्रीय स्वाधीनता का मंत्र देते हुए आह्वान करते हैं—

तस्मात्-त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।11/33
अतः उठो वीर, यश लाभ कर लो,
शत्रु जीत, वैभव राज्य भोगो,
मेरे से मृत, पूर्व ही शत्रु सारे
निमित्त मात्रं बनो सव्यसाची।।

भगवान् बुद्ध ने स्वाधीनता का मंत्र दोहराते हुए गाया—

अत्ताहि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परोसिया
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं।।
आत्मा ही आत्मा का स्वामी कौन पराया नाथ बने।
अपने आप को वश में करके दुर्लभ नाथ की प्राप्ति हो।

राष्ट्रीय स्वाधीनता की ज्योति को सदा जाज्वल्यमान रखने का आदर्श-सूत्र आचार्य चाणक्य ने दिया—

'न त्वेवार्यस्य दासभावः'

कौटिल्य का प्रसिद्ध उद्घोष था—'आर्य या अन्य सुसंस्कृत व्यक्ति कभी दासता में जीने के लिए जन्म नहीं लेता।

इस राष्ट्र निर्माता महापुरुष ने अपनी विचक्षण बुद्धि एवं अलौकिक राष्ट्रभक्ति द्वारा अनेकों छोटे-छोटे दुर्बल राज्यों में बँटे हुए देश को पुनः एक शक्तिशाली, देशव्यापी साम्राज्य के रूप में संगठित किया और विश्व विजय की लालसा से आधी दुनिया जीतकर भारत पर आक्रमण करने वाले यूनानी आक्रान्ताओं को सदा के लिये कुचल डाला। रणनीति एवं कूटनीति दोनों पर समान अधिकार रखने वाला, आसेतुहिमाचल जितने विशाल एवं शक्तिशाली साम्राज्य का संस्थापक व प्रधानमंत्री स्वयं पाटलिपुत्र में गंगा के तीर पर एक फूस की झोपड़ी में स्वार्थ रहित एवं अहंकार शून्य निष्काम कर्मयोगी का जीवन जीता था। इस प्रकार चाणक्य का कर्तृत्व एवं व्यक्तित्व दोनों ही राष्ट्रीय स्वाभिमान एवं समर्पण के जीवन्त आदर्श बन गये।

आचार्य चाणक्य ने लोकरंजन के आदर्श को पुनः प्रतिष्ठित करते हुए गाया—

नात्मनः सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च सुखे सुखम्।
नात्मनः प्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।
नहीं निजी सुख राजा का कुछ, प्रजाजनों के सुख में सौख्य
न राजा का प्रिय हित अपना, प्रजाजनों का प्रिय हित मुख्य।।

भारत में राष्ट्र एक राजनीतिक इकाई की अपेक्षा एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में अधिक प्रतिष्ठित रहा है। महाकवि इकबाल ने लिखा है—

यूनानो मिस्र रोमां सब मिट गए जहां से,
बाकी है अब तलक भी, नामों निशां हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमां हमारा।

यूनान, मिस्र, रोम जैसे प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित राष्ट्रों के मिट जाने के उपरान्त भी शताब्दियों के विदेशी आक्रमणों को झेलता हुआ भी भारत अभी तक बचा है, इसका रहस्य क्या है? भारत के अमरत्व के रहस्य की बात यह है कि जहाँ यूनान, मिस्र, रोम आदि राष्ट्र राज्य-केन्द्रित थे, वहाँ भारत सदा से संस्कृति-केन्द्रित रहा है। पश्चिम में राज्यों के नष्ट होते ही राष्ट्र लुप्त हो गए। किन्तु भारत में राज्यों के नष्ट होने, सत्ता के छिन जाने तथा 1300 वर्ष की पराधीनता के बादल छा जाने पर भी भारतीय संस्कृति का सूर्य अस्त नहीं हुआ।

जहाँ राजे-रजवाड़े, चप्पा-चप्पा भूमि के लिये युद्ध करके देश को सैकड़ों टुकड़ों में बांटते रहे वहाँ जगद्गुरु शंकराचार्य जैसे सांस्कृतिक देवदूतों ने सारे भारत की नंगे पांव, तीन-तीन परिक्रमा कर , चारों कोनों में चार पीठ स्थापित कर भारत की सांस्कृतिक एकता के सम्पादन का चमत्कार कर दिखाया। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, रामानन्दाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि ने भी शंकराचार्य की सांस्कृतिक ऐक्य-परम्परा को आगे बढ़ाया। भारतीय राष्ट्र-जीवन में यह भी एक आनन्ददायक आश्चर्य का विषय है कि जहाँ प्राचीनकाल में सभी ऋषि उत्तर भारत ने दिए, वहाँ मध्यकाल में मानो उत्तर भारत का ऋण चुकाने के लिए सभी आचार्य दक्षिण भारत ने ही दिये।

संत तुलसीदास

मध्यकाल के सन्तों ने राष्ट्र की स्वाधीनता एवं स्वाभिमान के लिये अपनी अमर वाणी का अमृतमंत्र फूँका। राष्ट्रकवि गोस्वामी तुलसीदास ने पराधीन राष्ट्र को जगाते हुए उद्बोधन किया—

'पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं।'

यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि अभावग्रस्त एवं सुख से वंचित व्यक्ति सपनों में कल्पना के सुख भोग कर अपने अभावों की क्षतिपूर्ति करता है। दिन भर का भूखा व्यक्ति सपने में सुख के पकवान भोगकर अपना मन बहला लेता है। किन्तु गोस्वामी तुलसीदास की चेतावनी है कि पराधीन व्यक्ति सपने में भी सुख नहीं पा सकता। उसका जाग्रतकाल जितना भयंकर है, उसका स्वप्नकाल उससे भी अधिक भयंकर होता है। कुटिल मन्थरा के चरित्र में तुलसीदास ने अवसरवादी, सिद्धान्तहीन व्यक्तियों की चालाकी भरी छल-छाया का चित्र खींचा है।

कोउ नृप होउ हमहि का हानी।
चेरि छाड़ि अब होब कि रानी।।

देश के स्वाभिमान की रक्षा हेतु महाराणा प्रताप जब स्वयं अपनी पत्नी एवं बच्चों सहित घास की रोटी खाने की स्थिति में आ गए और उनके पास सैनिकों को वेतन देने योग्य कुछ भी नहीं बचा था तो अनेक राजपूत सैनिक प्रताप का साथ छोड़कर अकबर की सेना में सम्मिलित होने लगे थे। वे राष्ट्रभक्ति शून्य, युद्ध को मात्र व्यवसाय मानने वाले सैनिक, अवसरवादिता का चालाकी भरा तर्क देते थे कि 'राज्य प्रताप का हो या अकबर का हो, हमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। हमें बस लड़ने से काम है। हम सैनिक की चाकरी छोड़कर कोई शासनाधिकारी थोड़े ही बनने वाले हैं।'

गुलामी की चूरी खाने का लोभ लग जाने पर जो मानसिक गुलामी छा जाती है, उसका चित्र गोस्वामी तुलसीदास ने कवितावली में शुक-सारिका संवाद के

बहाने प्रस्तुत किया है—

हम पंख पाई पींजवनि तरसत
अधिक अभाग हमारो।

अर्थात् 'हम स्वर्ग के पंछी अपने स्वस्थ पंखों से एक ही उड़ान में मुक्तगगन में उड़कर स्वाधीनता का आनन्द ले सकते हैं किन्तु यह परम दुर्भाग्य की बात है कि मुक्ति के सब साधन होते हुए भी मानसिक गुलामी के कारण पिंजरे की चूरी के लिए तरसते हैं। जो राजपूत अपने शौर्य के लिये जगत् प्रसिद्ध रहा है, वही यदि मुगल दरबार की चूरी के लोभ में अपनी बुआ और बेटी के डोले उठा कर अकबर के रनिवास में भेजने लगे तो इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है?

महाकवि सूरदास

महाकवि सूरदास जिनकी पंचशताब्दी इसी वर्ष मनाई जा रही है, मुख्य रूप से भक्ति एवं अध्यात्म के गीत गाते रहे। वे प्रज्ञाचक्षु महाकवि आध्यात्मिक स्वाधीनता की अमर रागिनी गाते हैं—

रे मन आपु को पहिचानि।
सब जनम हैं भ्रमत खोयौ, अजहुं तौ कछु जानि।।
ज्यौं मृगा कस्तूरि भूलै, सु तौ ताकैं पास।
भ्रमत हीं वह दौरि ढूंढैं, जबहिं पावै बास,
भरम ही बलवंत सब में ईस हूँ कैं आई।
जब भगत भगवंत चीन्हैं, भरम मन तैं जाई।।
सलिल लौ सब रंग तजिकै, एक रंग मिलाइ
सूर जौ द्वै रंग त्यागे, यहै भक्त सुभाइ।।

सूरदास ने व्यक्तिगत स्वाभिमान, कुलाभिमान एवं समाज के स्वाभिमान को भी अपनी लेखनी से अमर बना दिया है। युद्ध भूमि में भीष्म की प्रतिज्ञा बड़ी स्वाभिमान पूर्ण है—

जौ पै हरि हिं न शस्त्र गहाऊं।
तो लाजौं गंगा जननी को, शान्तनु सुत न कहाऊं।।

सूरदास अपने अमर भक्ति काव्य में कहीं-कहीं साम्ययोग (आधुनिक शब्दावली में समाजवाद) की छटा भी दिखाते हैं—

खेलत को कासौ गोसैया,
अति अधिकार जनावत याते।
अधिक तुम्हारे हैं कछु गैया।।

ग्वाल-बाल भगवान् कृष्ण को ताना मारते हुए कहते हैं—'हे गोस्वामी, खेल में कौन किस के साथ खेले? क्या आप अधिक अधिकार इसीलिए जता रहे हैं कि आपके घर में गैया अधिक है?

यह कितना मीठा व्यंग्य है?

राष्ट्र-संत समर्थगुरु रामदासजी ने छत्रपति शिवाजी को निमित्त बनाकर राष्ट्र-विजय के लिये वैसा ही निष्काम कर्मयोग का उपदेश दिया जैसा भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर महाभारत युद्ध में दिया था।

धर्मासाठी मरावे। मरोनि अमछपांसि मरावे।
मारितां मारिनां ध्यावें। राज्य आपुले।।

अर्थात् धर्म हेतु मरने को प्रस्तुत, हम बलि वीर रिपु सब मारें।

मरते मारते प्राप्त करें हम, निज स्वदेश में अपना राज्य

दशम गुरु गोविन्दसिंह ने देश व धर्म की रक्षा के लिये खालिस (युद्ध) आर्यों का पंथ सजाया।

जे आरज तूं खालिस होवें, हंस-हंस सीस धर्म हित खोवें।
सकल जगत में खालसा पन्थ गाजे, जगे धर्म हिन्दू सकल मंड भाजे।।
यही देहु आज्ञा तुरक गहि खपाऊँ। गऊ घात का दोख जग सों मिटाऊँ।
यही आस पूरण करों तुम हमारी। छुटै कष्ट गैयन, मिटे खेद भारी।

राष्ट्र रक्षा के लिये गुरु महाराज धर्मरक्षा एवं गौ-रक्षा को अनिवार्य मानते थे। आज देश का दुर्भाग्य है कि धर्म-स्वातंत्र्य विधेयक और गौ-रक्षा विधेयक का समर्थन करने वाले प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई को विद्रोही शक्तियों के आन्दोलन के कारण त्याग-पत्र देना पड़ा।

गुरु गोविन्दसिंह की भविष्यवाणी है—

राज करेगा खालसा, याकी रहा न कोय।

अर्थात् शुद्ध धर्मात्मा खालिस आर्यों का ही राज्य होगा। दुष्टों का अन्त होकर रहेगा।

आर्य समाज के संस्थापक, वेदोद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1857 की क्रान्ति के समय रानी लक्ष्मीबाई एवं तात्या टोपे आदि को स्वराज्य की प्रबल प्रेरणा दी तथा घोषणा की कि 'सुराज्य की अपेक्षा स्वराज्य हजारों गुणा अधिक मूल्यवान है।'

भारत की अखण्डता एवं विश्व शान्ति का स्वर्णिम सूत्र : सद्भावना यात्रा

यात्रा से मनुष्य का जीवन एवं जगत् के प्रति दृष्टिकोण व्यापक बनता है। नये-नये व्यक्तियों, वस्तुओं और भूखण्डों के परिचय द्वारा व्यक्तित्व परिपक्व होता है। वेद का संदेश है चरैवेति-2 अर्थात् मानव तुम चलते जाना निरन्तर चलते जाना, बढ़ते जाना। यही प्रगति का लक्षण है। किन्तु चलना सोद्देश्य होना चाहिए, निरुद्देश्य नहीं। सोद्देश्य चलने वाला व्यक्ति, यात्री या यायावर कहलाता है और निरुद्देश्य घूमने वाला आवारा या लोफर। आवास या आजीविका की खोज में देश-विदेश घूमने वाले मानव समूह या मण्डलियाँ घुमन्तू जातियाँ कहलाती हैं। ये खानाबदोश लोग यूरोप में रामणि, रोमा कहलाते हैं। रोमानिया ऐसा देश है जहाँ ऐसे ही घुमन्तू लोगों की अधिकता है। वैसे ये सारे यूरोप, अमेरिका में फैले हुए हैं। रोमानिया, रोमा नाम इनका मूलतः रोम से निकला है। सम्भवतः भारत से ईरान होकर यूरोप की ओर जाने वाले घुमन्तू मानव समूह में रोम जाति के लोग अधिक रहे होंगे। इन्हें जिप्सी (Gipsy) भी कहा जाता है। सम्भवतः यूरोप में इनकी रंग-बिरंगी वेशभूषा को देखकर लोगों ने इन्हें मिस्र (Egypt) वासी मान लिया होगा। इसलिये इजिप्टवासी की भांति जिप्सी नाम चल पड़ा।

भगवान् बुद्ध ने कहा—

चरथ चिक्कने चारिकम्
बहुजन हिताय बहुजन सुखाय
धर्म चक्रं प्रवर्तनाय

मित्रों! तुम सभी दिशाओं में चलते जाओ। बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, धर्म चक्र के प्रवर्तन के लिये निरन्तर बढ़ते जाओ।

महापण्डित राहुल सांस्कृत्यान ने घुमक्कड़ शास्त्र नाम पुस्तक में घूमने वाले व्यक्तियों और मानव समूहों की बड़ी महिमा गाई है। वे घुमक्कड़ जाति में घुमन्तुओं और यात्री को सम्मिलित कर लेते हैं और आज संसार में जो कुछ प्रगति

संभव हुई है वह (पर्यटन प्रियता) घुमक्कड़ी के कारण ही हुई। घरघिसु लोगों से कुछ भी प्रगति नहीं हो सकती। राम के वनवास के बिना रामायण का इतिहास कैसे बनता? पाण्डवों के वनवास के बिना महाभारत का घटनाक्रम नितान्त फीका होता। श्रीकृष्ण अपनी जन्मभूमि मथुरा और लीलाभूमि गोकुल-वृन्दावन छोड़कर द्वारिका, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, कुरुक्षेत्र, प्राग्ज्योतिषपुर, विदर्भ आदि स्थानों पर घूमते न रहते तो देश का इतिहास आज भिन्न प्रकार का ही होता। शंकराचार्य यदि अपनी जन्मभूमि कालड़ी छोड़ कर देश के चारों धाम की पदयात्रा न करते तो देश की सांस्कृतिक अखण्डता ही असंदिग्ध हो जाती। उस अखण्डता को जीवित रखने के लिए देश के लाखों, करोड़ों लोग निरन्तर चलते हुए इन चारों धाम की यात्राएं करने चले आते हैं एवं तीर्थयात्रा की परम्परा से देव दर्शन और देश दर्शन होना, दोनों साथ-साथ सिद्ध हो जाते। गंगोत्री के गंगाजल की काँवर भर कर यात्री सारे देश की यात्रा करते हुए जब रामेश्वर में पहुँच कर उस गंगाजल से भगवान् शिव का अभिषेक करते हैं या रामेश्वर के सागर के जल की काँवर लेकर हिमालय में केदारधाम में भगवान् शिव का अभिषेक करते हैं तो उन्हें अलौकिक आध्यात्मिक सन्तुष्टि और भारत की सांस्कृतिक अखण्डता की अनुभूति होती है।

यूरोप में राष्ट्र राजनीतिक इकाई को माना जाता है। सारे यूरोप की सभ्यता-संस्कृति लगभग एक समान होने पर भी राजनीतिक अनेकता होने के कारण वहाँ व्यक्तियों के 20 से अधिक राष्ट्र बन गये हैं। और, राष्ट्रों के और बढ़ने की सम्भावना सदा बनी रहती है। भारत में जहाँ सन् 1947 में 550 देसी राजे-रजवाड़े थे और उससे पूर्व हजारों राज्य रहे होंगे। भारत के सांस्कृतिक ऐक्य के चमत्कार से राजनीतिक इकाइयाँ अनेक होते हुए भी राष्ट्र सदा एक ही रहा है। इस सांस्कृतिक एकता के चमत्कार का संवर्द्धन किया हमारी तीर्थयात्रा परम्परा ने, भारत को बचाया संस्कृति ने और संस्कृति को जीवन्त रखा यात्रा-परम्परा ने। यदि राष्ट्र जीवित संस्कृति है तो संस्कृति की श्वसन क्रिया तीर्थयात्रा है। अतः आधारभूत रूप से सांस्कृतिक यात्रा ही करनी चाहिये। क्योंकि वह संस्कृति की साधना के लिए ही है। मात्र मनोरंजन के लिये यात्रा करना उतना फलदायी नहीं जितना कि इतिहास-दर्शन, देश-दर्शन व सांस्कृतिक आदान-प्रदान के उद्देश्य से यात्रा करना है।

संस्कृति संस्कारों की श्रेष्ठ परम्परा है। यह जीवनमूल्यों की पावन प्रणाली है। जीवन में कुछ आदर्श हैं जो जीवन को वास्तविक मूल्य प्रदान करते हैं। श्रेष्ठ आदर्श को जीवनमूल्य कहा जाता है। ऊँचे जीवनमूल्यों को इतना पवित्र एवं मूल्यवान माना जाता है कि उनकी रक्षा के लिए मानव अपने स्वयं के जीवन को भी हंसते-हंसते बलिदान कर देता है। जैसे देवहितार्थ एवं देशहितार्थ महर्षि

दधीच का अस्थिदान, जीव दया के लिये हरिश्चन्द्र का राज्य एवं अपने परिवार का बलिदान, पितृवचन की मर्यादा के लिए भगवान् राम का राज्य त्याग, प्रण रक्षा के लिए प्रताप की वह तपस्या, स्वाधीनता के मूल्य के लिये भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, चन्द्रशेखर आजाद आदि के बलिदान धर्म की रक्षा के लिए हकीकतराय और गोविन्दसिंह के लाडलों का बलिदान जिसका जीवनमूल्य प्रदान करने वाले ये ही जीवनमूल्य है। यदि ये जीवनमूल्य ही नष्ट हो गए तो जीवन का मूल्य दो कौड़ी का भी नहीं बचता। इसलिये जीवनमूल्यों पर संकट आने पर जीवनमूल्यों की मर्यादा बचाने के लिये महापुरुष अपना जीवन तक बलिदान कर देते हैं। जीवनमूल्यों की परम्परा ही संस्कृति है। यात्रा द्वारा देश के उत्तर, दक्षिण, पूर्व व पश्चिम सब दिशाओं के लोग परस्पर मिलते हैं। विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। समान आस्थाओं का सम्मान करते हैं तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सीख सांस्कृतिक आदर्श की साधना करते है।

भारत पर सैकड़ों विदेशी आक्रमण एवं 1000 वर्ष के विदेशी शासन के उपरान्त भी भारत को बचाये रखने वाला यह सांस्कृतिक ऐक्य का तत्त्व ही है। हमारे देश में भाषाएं अनेक हैं किन्तु भाव एक है। रूप अनेक हैं, किन्तु जीव का आभ्यन्तर स्वरूप एक है। वेश, परिवेश अनेक हैं, किन्तु देश एक है, संदेश एक है। आकृतियाँ अनेक हैं पर संस्कृति एक है। पथ अनेक हैं पर लक्ष्य एक है। इस संस्कृति के ऐक्य के बिना आज भारत ही नहीं बचता।

इस प्रकार अपने देश में यात्रा द्वारा सांस्कृतिक ऐक्य की परम्परा है। इसी प्रकार विदेशों की सांस्कृतिक यात्रा द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक मैत्री का मार्ग खुलता है।

इतिहास के उषाकाल से ही भारत ने संसार के समस्त देशों को अपना अध्यात्म और संस्कृति की सुधा को निःस्वार्थ भाव से बांटा है। इसी कारण भारत सांस्कृतिक दृष्टि से जगत्गुरु का सम्मान प्राप्त कर सका है। भारत के वेदविदों, मुनियों, भिक्षुओं, आचार्यों, और संस्कृति साधकों द्वारा विश्वभर में स्थापित सांस्कृतिक साम्राज्य के विस्मृत अध्याय को खोजना या टूटी हुई शिथिल पड़ी सांस्कृतिक कड़ियों को पुनः जोड़कर, अतीत के कल को आज से सजीव करना और आगे के अधिक सुसंस्कृत त्यागी काल का निर्माण करना सांस्कृतिक यात्रा का उद्देश्य होता है।

डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा है कि जब आप किसी अपरिचित व्यक्ति के नेत्रों में झांकते हैं तो बोध होता है वह अपना बन्धु ही है। इससे आगे बढ़कर वेदान्त कहता है—दूसरे के हृदय में झांक कर देखो तुम्हें बोध होगा कि उसके हृदय

मन्दिर में भी तुम्हीं विराजमान हो। गीता में कहा है कि जो इनके अन्तर में ही छुपे हुए अपने आप को पहचान लेता है वह सर्वत्र आत्म दर्शन ही करता है। जिसमें सब आत्माओं की आत्मा विश्वात्मा जगदात्मा, सकल भूतान्तरात्मा, सर्वात्मा को पहचान लिया वह सर्वत्र परमात्मा का दर्शन करता है। तुलसीदासजी के शब्दों में—

सीयराम मय सब जग जानी
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

ऐसे परमात्म दर्शी व्यक्ति के लिये पराया और विदेशी, बचा ही कौन? गुरुनानक के शब्दों में—

ना कोई बैरी न ही बेगाना,
सकल संग हमारी बन आई।
बिखर गई सब तात पराई।।

सांस्कृतिक तीर्थंकर गुरुनानक ने चारों दिशाओं में घूमकर चार उदासियाँ करके जन-जन के हृदय में झाँककर जान लिया था कि संसार में कोई भी वैरी और बेगाना नहीं बचा। सबके साथ हमारी आत्मीयता बन गई और परायापन सदा के लिये भूल ही गये हैं। सांस्कृतिक सद्भावना यात्रा के चमत्कार से संसार भर में परायापन, विदेशीपन और वैरभाव दूर होकर सच्ची सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आत्मीयता का विकास हो सकता है।

भारत ने सदा राजनीतिक अथवा कूटनीतिक संबंधों की अपेक्षा सांस्कृतिक संबंधों को अधिक महत्त्व दिया है। दो राष्ट्रों के बीच में कूटनीतिक अथवा राजनयिक मैत्री सम्बन्ध देश-काल, पात्र, परिस्थिति के परिवर्तन के साथ कूटनीतिक प्रहार एवं आकस्मिक आघात में भी बदल सकते हैं। द्वितीय महायुद्ध में रूस तथा जर्मनी के बीच प्रारम्भिक कूटनैतिक मैत्री अकस्मात् कूटनैतिक प्रहार में परिवर्तित हो गई। राजनयिक अथवा कूटनैतिक मैत्री सम्बन्ध किसी न किसी राजनीतिक स्वार्थ पर अवलम्बित होते हैं। उस स्वार्थ की पूर्ति हो जाने के बाद उन सम्बन्धों का कुछ महत्त्व ही नहीं बचता तथा स्वार्थ पूर्ति में बाधा हो जाने पर आज के स्वार्थ से परम मित्र कल स्वार्थ वश परम शत्रु बन जाते हैं। राजनयिक हस्तमिलाप स्वार्थ एवं अवसरवादिता का हस्तमिलाप है। जिस प्रकार से कुश्ती के दंगल में उतरने वाले दो मल्ल हाथ मिलाकर खेल शुरू करते हैं और दावंपेच करते हुए निरन्तर एक-दूसरे को चारों खाने चित, पछाड़ने की ताक में रहते हैं। उसी प्रकार से राजनयिक दौत्य-सम्बन्ध वाले देश ऊपर से कृत्रिम हाथ मिलाते हैं और छलना भरी मुस्कान से अन्तर के छुद्रभावों को छिपाने की चेष्टा करते

हैं तथा निरन्तर दूसरे देश को अवसर मिलने पर धूल चटाने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। भारत की अन्य देश के प्रति न कभी कोई राजनीतिक ईर्ष्या थी और न उसने राजनीतिक छल-प्रपंच या सौदेबाजी को ही कभी महत्त्व दिया है। भारत सदा अपनी सांस्कृतिक फुलवारी की सुमधुर सुवास बांटने तथा अन्यान्य देशों के जीवनमूल्यों के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान कर मानवता को अधिक शान्ति एवं समृद्धि के स्वर्ग में लाने के लिये चेष्टा करता रहा है। मात्र मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद के लिए यात्रा करने वाले, ऐयाश और निरुद्देश्य यात्रा करने वाले लोग आवारा, लोफरबाज व हिप्पी हैं। सोद्देश्य सांस्कृतिक सद्भावना यात्राएं करने वाले तो धरती को सुख शान्ति का और सुप्त प्रेरणाओं को जगाकर भारत को पुनः जगत्गुरु के सिंहासन पर आसीन करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

स्थिर बिन्दु

आर्किमिडीज ने कहा था कि मुझे कोई स्थिर आधार (खड़े होने का स्थल) मिल जाये, तो मैं दुनिया को हिला सकता हूँ। किन्तु बेचारा ऐसा स्थिर बिन्दु न पा सका। स्थिर बिन्दु तुम्हारे अन्दर है, वह है तुम्हारी आत्मा! उसे पकड़ो, और सारा संसार तुम चलाने लगोगे।

वास्तव में कर्ता भी तुम्हीं हो और कर्म भी तुम्हीं। तुम ही आत्मा हो और तुम ही नाम मात्र अनात्मा हो। तुम ही सुन्दर गुलाब हो, और प्रेमी बुलबुल भी तुम ही है। तुम फूल हो और भौंरा भी तुम हो। हर एक चीज तुम हो। भूत और प्रेत, देवता और देवदूत, पापी और महात्मा, सब तुम ही हो। यह है संन्यास, त्याग का मार्ग! अपना केन्द्र अपने से बाहर मत बनाओ, ऐसा करने से तुम गिर पड़ोगे! अपना पूर्ण विश्वास अपने में रखो, अपने केन्द्र में बने रहो। फिर तुम्हें कोई भी चीज न हिला सकेगी। **—स्वामी रामतीर्थ**

हिन्दुत्व सत्य के अनुसंधान की सतत साधना है और यदि आज यह मृतप्राय, निष्क्रिय, विकास के प्रतिकूल हो गया तो इसका कारण है कि हम थक गये हैं और जैसे ही हमारी यह थकान दूर होगी, हिन्दुत्व सम्पूर्ण विश्व पर एक ऐसी प्रखर दीप्ति के साथ छा जायेगा जो सम्भवतः इसके पहले सभी के लिये अज्ञात होगा।

—गांधीजी

वर्ण व्यवस्था

भारत की मृत्युञ्जय संस्कृति में भारतीय समाज को एक सुन्दर व्यवस्था में निबद्ध किया गया है ताकि व्यक्ति और समाज, दोनों का क्रमशः विकास होता जाय और मानव पुरुषार्थ चतुष्टय के जीवन मूल्य को प्राप्त कर सके। चातुर्वर्ण्य की रचना बड़े मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय आधार पर की गई थी। यह हमारी जाति व्यवस्था थी, जात-पांत का भेदभाव नहीं। व्यवस्था और भेदभाव में आकाश-पाताल का अन्तर है। जिस घर में व्यवस्था है वहाँ स्वर्ग का वास है और घर में भेदभाव होते ही घर नरक तुल्य बन जाता है।

दुर्भाग्य से आजकल चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को जात-पांत का भेदभाव कहकर इसकी निन्दा करना आजकल के अधकचरे लीडरों का धन्धा बन गया है। समाजवादी और कम्यूनिस्ट नेतागण भी पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित होकर आये दिन हिन्दू समाज, वर्ण व्यवस्था, ब्राह्मणवाद आदि को जाने-अनजाने गाली सुनाते रहते हैं। कई हिन्दुत्वाभिमानी नेता भी जाति व्यवस्था की ऐसी असन्तुलित आलोचना कर बैठते हैं जिससे हिन्दुत्व को लाभ होने के स्थान पर हानि होती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कहा, 'वर्ण व्यवस्था जो कभी हिन्दू समाज की जीवन व्यवस्था थी, आज वह समाज की मरण व्यवस्था बन रही है।'

इस कथन में स्वामीजी का दुःख ध्वनित होता है कि आज दुर्भाग्य से हिन्दू-हिन्दू को अछूत मानकर घृणा करने लगा है जिसके फलस्वरूप चतुर्थ वर्ण के अभागे हिन्दू अपना स्वधर्म त्याग कर ईसाई और मुसलमान बन जाते हैं तथा इस प्रकार हिन्दू समाज का क्रमशः मरण होता जाता है। स्वामी दयानन्द प्रतिक्रिया में दूसरी अति सीमा पर भी पहुँच गये और उन्होंने हरिजनों का यज्ञोपवीत संस्कार कर वेद पढ़ने का विधान किया।

गांधीजी ने शूद्रों को हरिजन नाम देकर उनका मान बढ़ाया और स्वयं हरिजन कालोनी में रहकर और साबरमती में हरिजनोद्धार हेतु आश्रम बना कर उन्होंने सवर्णों और अन्त्यजों के बीच के भेद को मिटाने का भरपूर प्रयास किया किन्तु वर्ण व्यवस्था में उनकी श्रद्धा बनी रही। वे एक बार वर्धा में राष्ट्रीय स्वयंसेवक

संघ के एक शिविर में सब वर्णों के हिन्दुओं को साथ-साथ मिलकर कार्यक्रम करते हुए देखकर विस्मित हुए तथा संघ संस्थापक डा. हेडगेवार को कहा, 'जो कार्य मैं जीवनभर परिश्रम कर सफलतापूर्वक नहीं कर सका वह चमत्कार आप हिन्दू संगठन के माध्यम से कर सके हैं।' कई हिन्दू नेताओं (जैसे श्री सन्तराम बी.ए.) ने सब वर्णों के संगठन के स्थान पर जात-पाँत तोड़क मण्डल बनाया किन्तु वह सारे समाज से अलग-थलग एक पांचवीं जाति के समान एक छोटा खण्ड बना जो धीरे-धीरे समाप्त हो गया।

जो प्रगतिवादी नेता मंचों पर जातिवाद के विरुद्ध भयंकर विष वमन करते हैं वे स्वयं अपने आचरण में, लोक व्यवहार में, राजनीति में और चुनाव के प्रसंगों पर स्वयं जात-पांत को बड़े घृणित ढंग से बढ़ावा देते हैं और कुछ जातियों को दूसरी जातियों के विरुद्ध भड़का कर, एक पंथ को दूसरे पंथ के प्रति संशयालु बनाकर वे भयभीत एवं भ्रमित लोगों के मत बटोरकर अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करते हैं। इस प्रकार भारत में जातिवाद एक ऐसा बेकार का पत्थर मान लिया गया है जिसको जल्दी से जल्दी फेंक देने का जनता को उपदेश दिया जाता है और चालाक लीडर उसी पत्थर पर अपने राजनीतिक शस्त्रों को घिसकर तेज करते हैं ताकि वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए समाज को काट सकें।

भगवान् ने गीता में कहा—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः 4/13

हे अर्जुन! मैंने गुण कर्म के विभाग से चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है किन्तु चारों का कर्ता मैं स्वयं निर्लिप्त होने के कारण अकर्ता ही हूँ। गीता में भगवान् स्वयं चारों वर्णों का कर्तव्य निभाते हुए भी स्वयं निर्लिप्त ही रहते हैं। वे ब्राह्मण के समान अर्जुन को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दे रहे हैं। एक क्षत्रिय के समान युद्ध संचालन भी करते हैं, वैश्य के समान गो-पालन करते हैं और शूद्र के समान सारथि बनते हैं, रथ-संचालन करते हैं, घोड़ों की मालिश करते हैं और यज्ञ में जूठी पत्तल उठाते हैं और इस पर भी चारों वर्णों के कर्मों से निर्लिप्त-निर्विकार और सबसे ऊपर रहते हैं। आदर्श वर्ण व्यवस्था गुण एवं कर्म के आधार पर होती है जन्म के आधार पर नहीं, किन्तु गुण एव कर्म भी जन्म से प्रभावित होते ही हैं अतः जन्म के आधार को भी टाला नहीं जा सकता। जिस प्रकार एक नाटक में परस्पर भाई-भाई के समान प्रिय सदस्यों को भिन्न-भिन्न पात्रों की भूमिका दी जाती है और भूमिका देते समय यह विचार किया जाता है कि ऋषि की भूमिका के लिए किस व्यक्ति की वाणी, शरीर और गुण सम्पदा अधिक उपयुक्त है। इसी प्रकार राजा के लिए कौन उपयुक्त है आदि-आदि। वे नाटक में अपना-अपना कर्तव्य बहुत सुन्दर रीति से निभाते हैं किन्तु परस्पर विरोधी भूमिका होने पर भी उनके मन में कोई भेदभाव

नहीं होता। समाज में चार वर्णों की परस्पर सहयोग भावना अनिवार्य है, शिक्षक, रक्षक, पोषक और सेवक। ब्राह्मण ज्ञाता है, क्षत्रिय त्राता है, वैश्य दाता है और शूद्र सहेता है। इन शास्त्री, शस्त्री, धनी और श्रमी के बिना आलिम, आमिल और ताजिर और मजदूर के बिना कोई समाज चल ही नहीं सकता।

वेद में चारों वर्णों की उत्पत्ति एक ही परम पुरुष से बतायी गई है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां ँ् शूद्रो अजायत।।

उसी परमपुरुष के मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई, भुजाओं से क्षत्रिय, मध्य भाग से वैश्य तथा चरणों से शूद्र। इस प्रकार चारों वर्ण एक ब्रह्म के अभिन्न अङ्ग होने के कारण उनमें परस्पर संघर्ष, वैमनस्य, भेदभाव आदि का स्थान ही नहीं बचता। जिस व्यक्ति के मुख के आदेश को भुजायें न माने, जिसके उदर के अन्न से पूरे शरीर का पोषण न हो, जिसके पांव शरीर की सेवा करने के काम में हड़ताल कर दें उस शरीर का नाश अवश्यंभावी है। जहाँ चरण सेवा करते हैं, वहाँ मस्तिष्क उनकी भलाई का विचार करता है, हाथ निरंतर रक्षा के लिये तत्पर रहता है उदर अपने खाये हुए भोजन से उचित मात्रा में पांव को भी पोषण देता है और पांव तीनों वर्णों के सहयोग के बदले उनकी सेवा को प्रस्तुत रहता है, वहाँ शरीर स्वस्थ, सुन्दर एवं समाजोपयोगी बनता है। मानव के सुसंगठित शरीर के समान समाज का शरीर है जिसका कोई अंग अस्पृश्य, तिरस्करणीय, अनुपयोगी अथवा त्याज्य नहीं है। यह हमारी व्यवस्था गुण कर्म के आधार पर हो तो ही सर्वोत्तम है किन्तु बहुत से गुण परम्परा से वंश परम्परा के द्वारा भी पिता से पुत्र तथा पुत्र से पौत्र में संस्कार बीज के रूप में प्राप्त होते हैं। अतः जन्म परम्परा का भी महत्त्व कम नहीं है।

फिर यह भी देखना आवश्यक है किस वातावरण में संस्कारों में पल रहा है और उसके प्रयास किस दिशा में हैं?

इन तीनों आधारों के आधार पर ही वर्ण का निर्णय होता था और वर्ण व्यवस्था थी, वर्ण भेद नहीं। इस रूप में वर्ण व्यवस्था जब तक सम्यक् रूप में चलती रही तब तक जीवन व्यवस्था के रूप में थी। पर कालान्तर में वर्ण व्यवस्था वर्ण भेद में परिणत हो गया, ऊंच-नीच का भाव जुड़ गया और केवल जन्म ही आधार रह गया। केवल जन्म ही आधार रहने से विशेषाधिकार जैसी वस्तु बन जाती, गुण अर्जन का प्रयास न्यून हो जाता है, फलतः विकृत होकर आज मरण व्यवस्था के रूप में परिणत होती जा रही है।

जायसवाल युवक संघ के सम्मेलन में अभिभाषण

भारतीय समाज जाति व्यवस्था की भित्ति पर खड़ा है। आजकल जाति व्यवस्था की कतिपय आलोचना की जा रही है। किन्तु आलोचक भूल जाते हैं कि जाति व्यवस्था हमारे सामाजिक जीवन की ऐसी सुदृढ़ व्यवस्था रही है, जिसने समाज के सभी सदस्यों को छोटी-छोटी इकाइयों में संगठित रहने में सहायता की तथा हजारों वर्षों के विदेशी आक्रमणों के उपरांत भी समाज को विश्रृंखलित नहीं होने दिया। जहाँ जाति व्यवस्था हमारी जीवन व्यवस्था रही है, वहाँ जाति-विद्वेष हमारी मरण व्यवस्था कही जा सकती है।

सूर्य पुत्र भगवान मनु से सूर्य वंश प्रारंभ हुआ। मनु की पुत्री इला के चन्द्र पुत्र बुध के साथ विवाह से चन्द्र वंश प्रारंभ हुआ। चंद्रवंश में त्रेतायुग में राजा कृतवीर्य हुआ। उनके पुत्र कार्तवीर्य अर्जुन (सहस्रार्जुन) महिस्मति नगरी (मध्यप्रदेश) के बड़े प्रतापी राजा हुए। जमदग्नि ऋषि से कपिला गाय प्राप्त करने के प्रयास में वे परशुराम जी द्वारा मारे गये। उनकी क्षत्रिय सन्तानों ने परशुराम के भय से वणिक व्यवसाय आदि प्रारंभ कर दिया। उन्हीं की एक शाखा उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले में जायस नामक ग्राम में आकर बसी। उसी ग्राम में रहने वाले प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद 'जायसी' हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित हैं। वहीं है 'हैहय' वंशी क्षत्रिय जायस में रहने के कारण जायसवाल कहलाए।

व्यक्ति को स्वधर्म पालन में अपने से बड़ी इकाई के प्रति समर्पण के भाव का विकास करते जाना चाहिए। शरीर धर्म में शौच, स्नान, व्यायाम, भोजन, परिश्रम, सेवा, विश्राम ये सात कर्तव्य हैं। शरीर धर्म के ऊपर कुल धर्म है, जिसमें परिवार की रक्षा, सेवा, प्रतिष्ठा करना कर्तव्य हैं। उसके ऊपर जाति धर्म, उससे ऊपर समाज धर्म, उससे ऊपर राष्ट्रधर्म तथा फिर विश्व धर्म है। अतः जाति सेवा तो राष्ट्र सेवा एवं विश्व मानवता की सेवा के लिए एक आवश्यक सीढ़ी है, समाज सुधार की अंधी दौड़ में हमें वे आवश्यक सीढ़ियां ही नहीं तोड़ देनी चाहिए, जिनके सहारे हम विश्व कल्याण के सर्वोच्च शिखर तक पहुँच सकते हैं।

मनुष्य के सूक्ष्म शरीर पर नवीनतम अन्वेषण

मनुष्य की प्रकट चेतना के परे जो सूक्ष्म, विराट और गहन अवचेतना क्षेत्र वर्तमान है वह अगम, अगाध, आश्चर्यजनक और रहस्यमयी शक्तियों का सागर है। मनुष्य का वास्तविक व्यक्तित्व इन्हीं निगूढ शक्तियों पर आधारित है। उसका वह अतिचेतन तथा अवचेतन व्यक्तित्व जाग्रत तथा सुषुप्त जीवित तथा मृत अवस्थाओं में भी नाना छायात्मक रूपों में अपने को व्यक्त करने में समर्थ है। सन् 1886 में मनुष्य की अतिचेतना से संबंधित इन घटनाओं की सत्यता की खोज के लिये 33 विद्वानों की एक समिति निर्मित की गयी। इस समिति ने अपनी खोज द्वारा कई आश्चर्यजनक तथ्यों का पता लगाया। सर विलियम कुक ने भी इस विषय में भारी खोज की। वह मानसिक शक्ति के प्रभाव से अपनी पत्नी को सामने कुर्सी पर बिठाकर उसी के आकार की एक अन्य आकृति को उत्पन्न कर सकते थे। सर विलियम कुक ने उस प्राणधारी प्रतिमा को छुआ तथा उसका फोटो लिया। उन्हें इस बात पर अत्यन्त अचम्भा हुआ कि उस आकृति के शरीर का तापमान भी था तथा नाड़ी भी चलती थी। जब सर विलियम कुक ने यह घटना समाचार-पत्रों में प्रकाशित करायी तो उन्हें मूर्ख कहा गया। कालांतर के पश्चात् विश्व ने उनको एक महान वैज्ञानिक के रूप में पहचाना। एक अन्य वैज्ञानिक विलियम बैरट ने भी इसी विषय में विशेष ख्याति प्राप्त की।

जनसाधारण की धारणा है कि भूत या प्रेत केवल मृतक का ही हो सकता है। किन्तु प्रेतात्मिक अन्वेषण से जीवित प्राणी का भी 'भूत' होना सिद्ध हुआ है। किसी जीवित व्यक्ति की प्रेतात्मा को प्रकट करके उसके सामने खड़ा किया जा सकता है। प्रेतात्मवादी विद्वान इस बात में सफल हुए हैं कि एक मेज के इर्द-गिर्द बैठे हुए आठ व्यक्तियों की मण्डली में से ही एक नवां व्यक्ति पैदा कर दें। वह पूरा-पूरा जीवित व्यक्ति दिखायी देता है। वह कुर्सी पर बैठता है आपसे हाथ मिलाता है तथा आपके साथ बैठकर चाय का कप पी सकता है। किन्तु ऐसा भूत अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। ये सब वैज्ञानिक तथ्य हैं जो प्रत्यक्ष प्रयोगों द्वारा प्रमाणित हो चुके हैं? हम प्रायः कहते हैं कि 'भूत कहाँ है? भूत तो मनुष्य के मन के भीतर से निकलता है।' यह बात अंशतः सत्य है। प्रेतात्मवादियों का भी यही मत है कि

भूत में आत्मा तो है किन्तु शरीर तत्त्व अथवा पदार्थ नहीं है। यदि वह आपके शरीर का कुछ पदार्थ ले ले तो आप भूत से डरने लगेंगे। यदि आप मानसिक बल से डटे रहें तो भूत आपके शरीर से पदार्थ न ले सकेगा, न साकार ही बन सकेगा। अतः आपके लिये कोई भूत न होगा। भूत उसी को दिखायी देता है जो मन का शिथिल है तथा भूत को अपने शरीर के पदार्थ का कुछ अंश ले लेने देता है। जब अपने मानसिक बल द्वारा आप किसी भूत को मेज पर बैठे आठों व्यक्तियों के शरीर का कुछ सूक्ष्म पदार्थ दे दें तो उन आठों को साक्षात भूत दिखायी देने लगेगा।

सूक्ष्म व्यक्तित्त्व

एक नवयुवक ने अपना फोटो उतरवाया तथा फोटोग्राफर को कहा कि मुझे सोमवार प्रातः आठ बजे निश्चित रूप से फोटो तैयार मिले। फोटोग्राफर ने निश्चित तिथि पर देने का वचन दिया। 4 दिन पश्चात् जब सोमवार प्रातः 8 बजे का समय हुआ तो वह युवक फोटोग्राफर की दुकान पर पहुँच गया। उसकी भुजा झुला कर कहने लगा : मेरा फोटो लाओ, मुझे जल्दी जाना है। फोटोग्राफर ने उत्तर दिया : तनिक ठहरिए, मेरा नौकर घर से चाबियाँ लेने गया है। दो-एक मिनट में आता होगा। अभी दुकान खोल कर देता हूँ। नवयुवक ने पुनः आवेश में कहा : 'मेरा फोटो लाओ, मुझे जल्दी जाना है।' इतना कहकर नवयुवक कहीं लुप्त हो गया। फोटोग्राफर ने तनिक पीछे मुड़कर देखा तो युवक नहीं था। उसने समझा कि एकदम से कहीं चला गया होगा। थोड़ी देर में फोटोग्राफर फोटो लेकर युवक के घर देने के लिये गया। किन्तु उसे यह जानकर महान् शोक और विस्मय हुआ कि नवयुवक घर में मरा पड़ा है और साथी लोग रोना-धोना कर रहे हैं। वह बालक के पिता से मिला तथा उन्हें सारी बात सुनायी। उसने कहा : 'तुम झूठ बोलते हो, वह बहुत सख्त बीमार था और आज प्रातः 8 बजे तो वह ऊर्ध्वश्वास ले रहा था। वह तुम्हारी दुकान पर कैसे जा सकता है। उसे दो बार मूर्च्छा आयी तथा उसके चारों ओर डॉक्टर खड़े थे। 8 बजकर 10 मिनट पर उसकी मृत्यु हो गयी।

फोटोग्राफर ने पुनः कहा : 'श्रीमानजी, आप मानें अथवा न मानें मैं ईश्वर को साक्षी मान कर कहता हूँ कि यह नवयुवक आज प्रातः पूरे आठ बजे मेरी दुकान पर आया, उसने मेरे कंधों पर हाथ रखा तथा मेरी भुजा झुलाकर दो बार कहा : 'मेरा फोटो लाओ, मुझे जल्दी जाना है।' अब लड़के का पिता तथा फोटोग्राफर दोनों बड़े विस्मय में डूब गये। वास्तव में सत्य यह था कि वह नवयुवक अकस्मात् मृत्यु के मुंह में जाने वाला था। अतः मरने से पूर्व वह अपनी एक अधूरी आकांक्षा पूरी करना चाहता था। इसीलिये उसका सूक्ष्म शरीर उसी का रूप धारण कर फोटोग्राफर के पास पहुँच गया था। घर में पड़ा हुआ उसका शरीर इसी कारण दो बार मूर्च्छित हो गया था।

भुतहा मकान

एक स्त्री अपने पति को सदा नया मकान ढूंढ़ने के लिये तंग किया करती थी। एक दिन पति बेचारा हारकर पड़ोस वाले गांव में मकान ढूंढ़ने गया। गांववालों ने कहा कि 'यहाँ कोई मकान खाली नहीं है। केवल एक खाली है किन्तु इसमें रात को एक चुड़ैल अथवा भूतनी आया करती है। आपकी इच्छा हो तो यही ले लो।' पति बेचारा इतना तंग आया हुआ था कि उसने उसे ही स्वीकार किया। जब वह अपनी पत्नी को संग लेकर उस गांव में पहुँचा तो साथी लोग उंगली उठाकर कहने लगे : अरे, यही वह स्त्री है जो इस मकान में डायन बनकर आया करती है। प्रत्येक ग्रामीण ने बार-बार यही कहा। वास्तव में वह स्त्री नया मकान लेने की इतनी अधिक इच्छुक थी कि उसका सूक्ष्म शरीर भूत बनकर वहाँ पहुँच जाया करता था!

इसी प्रकार से एक व्यक्ति ने किसी स्थान पर रात्रि के 12 बजे जाने का कार्यक्रम निश्चित किया था। वह लगभग 9 बजे उस कार्यक्रम में पहुँचने का दृढ़ संकल्प करके चारपाई पर सो गया तथा नौकर को ढ़ाई घंटे पश्चात् उठाने का निर्देश दे दिया। किन्तु वह नौकर भी सो गया तथा स्वामी को ठीक समय पर न उठा सका। किन्तु संकल्प शक्ति के प्रभाव से उस व्यक्ति की साकार प्रतिमा सूक्ष्म शरीर में उस बैठक में पहुँची हुई थी। उसने सब विषयों में अपना मत दिया तथा अन्य सदस्यों से वाद-विवाद भी किया। जब वह प्रातः उठा तो ऐसा अनुभव हुआ कि रात को स्वप्न में उसने वह बैठक होते देखी है। किन्तु अन्य सदस्यों से बातचीत करने पर उसे ज्ञात हुआ कि वह किसी विचित्र रूप से रात की बैठक में पहुँचा हुआ था। इस प्रक्रिया को सूक्ष्म-व्यक्तित्व-निक्षेप कहते हैं।

अचेष्टित उच्चारण तथा लेखन एक ऐसी क्रिया है जो मानवीय अवचेतना की देश कालातीत ज्ञान-शक्ति को प्रमाणित करती है। कुछ व्यक्ति किसी विशिष्ट मानसिक अवस्था में बिना किसी सचेत प्रयत्न के कुछ ऐसी बातें बोलने या लिखने लग जाते हैं जिसकी कोई अनुभूति स्वयं उन्हें नहीं होती। इस प्रकार की वाणी या लेख बड़े-बड़े ज्योतिषियों की भविष्यवाणियों से भी बढ़कर सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार से कोई व्यक्ति अपनी संकल्प शक्ति के द्वारा किसी दूरस्थ स्थान पर शारीरिक रूप से उपस्थित हुए बिना भी कोई कार्य कर सकता है।

मृत पत्नी का फोटो

पाश्चात्य देशों में आत्मिक अन्वेषण इतनी प्रगति कर चुका है कि जिन बातों को हम केवल मन का वहम तथा निराधार मानते थे वही आज सत्य सिद्ध हो रही हैं। यदि इस देश में आत्मिक चमत्कारों से संबंधित तथ्य बटोरे जायें तो

कई बड़े-बड़े पोथे तैयार हो सकते हैं। अभी हाल ही की घटना है कि जगन्नाथपुरी में एक व्यक्ति ने दूसरा विवाह किया तथा अपनी नयी पत्नी के संग एक फोटो खिंचवाया। किन्तु महान् आश्चर्य की बात है कि चित्र में उन दोनों के बीच उसकी पुरानी पत्नी बिल्कुल स्पष्ट खड़ी हुई दिखायी दी। वास्तव में पुरानी पत्नी का चित्र नयी पत्नी से भी अधिक साफ था।

संसार में सभी सूक्ष्म वस्तुएं प्रायः अदृश्य होती हैं। किन्तु उनका प्रभाव दृश्यमान स्थूल वस्तुओं से भी अधिक होता है। कई लोग स्वप्न में चलते रहते हैं। यद्यपि उनकी शारीरिक आंखें बन्द होती हैं। किन्तु उनकी सूक्ष्म चेतना संबंधी आंखें खुली रहती हैं। अतः वे एक लम्बा रास्ता चल जाते हैं किन्तु कुएं अथवा गड्ढों में नहीं गिरते। उनका सूक्ष्म व्यक्तित्व उनका पथ-प्रदर्शन करता रहता है।

पिछले कुछ दिनों की बात है कि रांची में रहने वाली एक यूरोपीयन नारी बीमार पड़ गयी। सब डाक्टरों ने निराशापूर्ण उत्तर दिया। अंत में एक अंग्रेज योगी ने समाधि लगाकर उसका रोग खोजा तथा उसे स्वस्थ कर दिया।

ये हैं सहस्रों तथ्यों में से कुछ तथ्य जो मनुष्य की आत्मिक तथा सूक्ष्मचेतना संबंधी शक्ति की रहस्यमयता की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं।

काल्पनिक छाया का शरीरीकरण

आजकल एक अन्य प्रकिया 'मैटीरियेलिजेशन' (शरीरीकरण) पर अनेक प्रयोग किये जा रहे हैं। शून्य में से ही कुछ मानव प्रतिमा उत्पन्न की जा सकती है। जो एक प्राणधारी जीव के समान व्यवहार करती है। यह प्रतिमा सिगरेट अथवा चाय तक पीने लगती है और सब प्रकार से जीवित मनुष्य का सा आचरण करती है। इस अलौकिक चमत्कार का मूल यह है कि मानवीय अवचेतना की कल्पना से आकार पायी हुई वह छायामूर्ति उपस्थित व्यक्तियों के सजीव तत्त्व ग्रहण करके साकार हो जाती है। इस पदार्थ तत्त्व को एक्टोप्लाज्म कहते हैं। इस प्रकार की शरीरधारी आत्मा से बहुत महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त हुई हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य के मरण के पश्चात् भी कुछ वस्तु जीवित रहती है यह मनोवैज्ञानिकों की भाषा में मनुष्य का व्यक्तित्व है तथा अध्यात्मवादियों तथा योगियों की भाषा में आत्मा है।

रविवार 7 जनवरी, 1951
धर्मयुग वर्ष 2, अंक-1 में प्रकाशित

चिन्ता के कारण

हरेक चीज की तरह चिन्ता के भी कुछ कारण होते हैं। इन कारणों को दो मुख्य भागों में बांटा जा सकता है। (अ) बाह्य कारण—जो कि मनुष्य के बाहरी भौतिक हालात से उत्पन्न होते हैं।

(ब) व्यक्तिगत कारण या मानसिक हालात—जिनकी जड़ें मनुष्य के मस्तिष्क में होती हैं।

(अ) बाह्य कारण

(1) जीवन के बोझ और समस्याएं—आम तौर से चिन्ताओं की शुरुआत जीवन की समस्याओं और बोझ के कारण होती है। चिन्ता और समस्याओं के बीच सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि चिन्ता शब्द जीवन की समस्याओं और बोझ का पर्यायवाची हो गया। मनुष्य में सोचने की क्षमता और बुद्धिमत्ता दी गई है जिससे कि वह परिस्थिति का सामना कर सके व नई समस्याओं का सामना कर सके। परन्तु जब समस्या जटिल होती है और व्यक्ति या तो मानसिक रूप से कमजोर या भावनात्मक रूप से अस्थिर होता है तो वह उनके प्रति चिन्तित हो जाता है। यह चिन्ताएं ज्योंही अनुचित और बेवजह होती हैं, त्योंही ये आ जाने वाली चिन्ता का रूप ले लेती हैं। आधुनिक जीवन निरन्तर मनुष्य के दिमाग पर दबाव उत्पन्न करता है। ये बोझ और चिन्ताएं उदाहरणार्थ परिवार के लिए रोटी कमाना, रोजगार प्राप्त करना, बेटी का विवाह, बीमारी का भय, जीवन को खतरे का भय आदि व्यक्ति को चिन्ताएं प्रदान करती हैं।

(2) सामाजिक सम्बन्धों की असफलता—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जब उसका सामाजिक सम्बन्ध असफल हो जाता है तो वह चिन्तित हो उठता है। सामाजिक रिश्तों के लिए परिवार पहला और सबसे गहन प्रशिक्षण क्षेत्र है। विवाह एक प्राथमिक सामाजिक सम्बन्ध है। इस प्रकार व्यावहारिक संबंधों में चिन्ता का एक स्वाभाविक कारण है। जान केनेडी के अनुसार चूंकि एक स्त्री का केवल मात्र भविष्य विवाह है, अतः इसी में वैवाहिक सम्बन्धों का विनाश एक पुरुष की तुलना में स्त्री के लिए अधिक चिन्ता का कारण है। पुरुष अधिक चिन्तित

होता है जब वह रोजगार खो देता है या व्यापार में असफल हो जाता है या लोगों के सामने बेइज्जत होता है।

(क) वासना की समस्या—फ्रॉयड के अनुसार चिन्ता का मुख्य कारण वासना की भूख है। यद्यपि फ्रॉयड इसमें पूर्णतया सही नहीं हो सकता, जब वह अत्यधिक ध्यान वासना पर केन्द्रित करता है और तब यह कहा जा सकता है कि वासना की कुण्ठा चिन्ता का मुख्य कारण है। मानसिक रूप से कुंवारे, नपुंसक, पति-पत्नी, निराश प्रेमी और सन्तानहीन माता-पिता हरेक की अपनी चिन्ता होती है।

(ख) इसी प्रकार सामाजिक रिश्ते और मित्रता में असफलता भी चिन्ता का कारण है।

(3) गिरता स्वास्थ्य—कुछ व्यक्ति गिरते स्वास्थ्य के कारण चिन्तित हो उठते हैं। परन्तु अधिकतर लोगों का स्वास्थ्य चिन्ताओं के कारण गिर जाता है। इस प्रकार कमजोर स्वास्थ्य चिन्ता के कारण की तुलना में उसका प्रभाव अधिक है। जो लोग एक मामूली तकलीफ में चिन्तित होना शुरू कर देते हैं वे चिन्ता के कारण सर्वप्रथम शारीरिक अक्षम हो जाते हैं। कुछ लोगों का परम ध्यान स्वच्छता और स्वास्थ्य सम्बन्धी बचाव पर पागलपन की हद तक केन्द्रित रहता है। वे हर वक्त छूत की बीमारी के भय में, गन्दगी के कीटाणुओं से, गन्दे लोग और लगभग हर वस्तु से भयभीत रहते हैं कि इसके कारण कहीं बीमारी नहीं हो जाए। इस प्रकार का अत्यधिक भय चिन्ताओं के लिए खुला निमन्त्रण है।

(4) असफलता—असफलता की बात हजारों स्त्री-पुरुषों पर मंडराती रहती है। भय से संदेह उत्पन्न होता है और संदेह साहस को दबा देता है और किसी नए कार्य की शुरुआत को लकवाग्रस्त कर देता है। अधिकांश जवान पुरुष-औरतें अपने आप को चिन्ता की नारकीय अग्नि में जलाते रहते हैं क्योंकि उन्हें असफलता का भय है और बहुत से असफल लोग अपने जीवन का अन्त आत्महत्या से कर लेते हैं।

(5) अभाव (इच्छाएं)—हर एक व्यक्ति में कुछ अभाव होता है, परन्तु अगर एक व्यक्ति में अभाव की भावना में वृद्धि होती है या उन इच्छाओं के सन्तुष्टीकरण में कमी होती है तो निश्चित वह चिन्तित होगा। वस्तुनिष्ठ कारण कहा जाए कि जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की कमी चिन्ताओं का एक कारण है। परन्तु किसी वस्तु की भूख का व्यक्तिगत दृष्टिकोण चिन्ता का ज्यादा भयानक कारण है। बजाए इसके केवल मात्र आवश्यकता। टैगोर कहते हैं कि—'चाह एक गहरी खाई के मुंह के समान है, वह एक लालच का ऐसा आक्रामक बल और चाह का अन्दरूनी भाव है जोकि मानसिक शान्ति के लिए ज्यादा खतरनाक है बनिस्बत इसकी कामनाएं।'

हमारा जीवित समाज जिसे हर कदम पर नृत्य करना चाहिए, हर वाणी में संगीत हो, हर अंग सुन्दर हो, जिसकी तुलना तारों और फूलों से हो, जो अपना सामंजस्य ईश्वर की सृष्टि से करले वह एक अनन्त लालच के शिकन्जे से बच जाता है। पर हम सामान्यतः ऐसा नहीं कर पाते जिसके परिणाम स्वरूप हम एक अनन्त लालच के शिकन्जे में कस जाते हैं। जैसे एक अत्यधिक भार से चरमराती झटके खाती बैलगाड़ी हो, जो उस सड़क पर ले जाती है जहाँ पदार्थों की प्राप्ति के बाद कुछ भी नहीं है, जो जीवन की हरियाली रूपी जमीन पर पहिए के बदसूरत गड्ढे बनाती चलती है, एक किनारे लग कर अपने गंवारपन के बोझ से टूट कर गिर जाती है और कहीं नहीं पहुँच पाती है। शोपेनहॉवर ने सही टिप्पणी की है, 'हम शायद ही कभी सोचते हैं कि हमारे पास क्या-क्या है, परन्तु हमेशा यही सोचते हैं कि हमारे पास क्या कमी है। यही इस पृथ्वी पर सबसे बड़ी त्रासदी है। शायद इसी के कारण मानवता को सबसे ज्यादा तकलीफ उठानी पड़ी जितनी कि मानव-इतिहास में युद्धों और बीमारियों से नहीं मिली।' एक मनुष्य की आकांक्षाओं का दूसरे से टकराव सामाजिक असामंजस्य उत्पन्न करता है और एक ही व्यक्ति के अन्दर इच्छाओं का संघर्ष उसे मानसिक असामंजस्य की ओर ले जाता है। विस्तृत छाई हुई चाह के चेहरे पर कुण्ठा बड़े-बड़े अक्षरों में लिखी होती है क्योंकि वह व्यक्ति की क्षमता से बाहर होती है।

(6) आजीविका की समस्या तथा अन्य आर्थिक समस्या—ईसा ने कहा था 'मनुष्य मात्र रोटी के लिए नहीं जीता।' परन्तु दुर्भाग्य वश औसत व्यक्ति रोटी के लिए ही ज्यादा चिन्तित है बजाए जिसस क्राइस्ट के। कल की रोटी कहाँ से उपलब्ध हो, यही मनुष्य की प्रमुख समस्या रही है और प्रमुख चिन्ता रही है।

(क) आर्थिक पतन—दुर्भाग्यवश मनुष्य ने अपने आपका धन सम्पत्ति से इतना तादात्म्य कर लिया है कि धन की हानि को वह जीवन की हानि मान लेता है। अगर व्यापार में असफल हो या नौकरी चली जाए या धन का अपहरण हो जाए या बैंक दिवालिया हो जाए तो एक अल्प दृष्टि के व्यक्ति का हृदय भारी हो कर पैर ठण्डे पड़ जाते हैं। धन की कमी आज की एक प्रमुख कठिनाई हो गई है, नतीजतन औसतन व्यक्ति एक विशिष्ट चिन्तायुक्त व्यक्ति हो गया है।

(ख) मालिक द्वारा प्रताड़ना—एक अनुचित और अत्यधिक कठोर मालिक अपने अधीनस्थ के लिए चिन्ता का कारण हो जाता है क्योंकि वह अनचाही प्रताड़ना देता है। समय-समय पर उसका कड़वाहट भरा व्यवहार अधीनस्थ कर्मचारी को भयभीत कर देता है। वह एक दौड़ते हुए घोड़े पर चाबुक चलाता है, इस प्रकार अधीनस्थ का जीवन तकलीफदेह बना देता है। कुछ लोग हर वक्त चिन्तित रहते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि उनका मालिक उनसे नाखुश हो जाए। उनके लिए आजीविका कमाना मौत की सजा के हुक्मनामे से ज्यादा खराब होता है।

(7) व्यापारिक समस्याओं की छाया घर के वातावरण पर—यह न केवल मूर्खतापूर्ण बल्कि मारक भी है कि व्यक्ति अपने आफिस या व्यापार की समस्या लेकर घर जाए। व्यापार की समस्याओं को दुकान या फैक्ट्री को बंद करने के साथ ही बंद कर देना चाहिए। कार्यालय की समस्या को आफिस की फाइल ताले में बंद करने के साथ बंद कर देना चाहिए। व्यक्ति को अपने घर हलके दिमाग के साथ तमाम व्यापारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर आना चाहिए वरना चिन्ता का शिकारी कुत्ता उसका विश्राम के समय भी पीछा करता रहेगा।

(8) क्षमता से अधिक परिश्रम—निरन्तर कार्य के लिए दिमाग की ऊर्जा सीमित होती है, इसलिए कार्य और विश्राम का जीवन में बराबर विभाजन होना चाहिए। मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सीमित मात्रा में सीखना अर्थात् सुविधाजनक विश्राम के अन्तराल के बाद सीखना। इससे ज्यादा समय व ऊर्जा की बचत होती है, बजाए बिना विश्राम के सीखने के। जब दिमाग को हम उसकी क्षमता के विरुद्ध काम में लगाए रखते हैं तो दिमागी मशीन अव्यवस्थित हो जाती है तथा मस्तिष्क में धुंधलापन छा जाता है और सहनशक्ति समाप्त हो जाती है तब मस्तिष्क अक्सर विद्रोह कर बैठता है। परन्तु आवश्यकता से भी अधिक परिश्रम से भी ज्यादा खतरनाक है आवश्यकता से अधिक हमारे स्नायुतंत्र का परिश्रम। जिसके कारण 'एन्जाइटी न्यूरोसिस' हो जाता है।

(9) कमजोर नस्ल—चिन्तित माता-पिता चिन्तित बच्चे उत्पन्न करते हैं। अगर माता-पिता आर्थिक, सामाजिक और पारिवारिक समस्याओं को बच्चों की उपस्थिति में अत्यधिक महत्त्व देते हैं तो वे अपरोक्ष रूप से चिन्तित सन्तानों को जन्म देते हैं। वे उनके युवा मस्तिष्क में अन्दर भय व चिन्ता के मारक बीज बो देते हैं। चिन्ता एक बाहर से उपलब्ध प्रयास है जो कि चिन्तित माता-पिता से प्राप्त होता है। कहावत है 'छोटे घड़ों के बड़े कान होते हैं' और इसी तरह छोटे बच्चों के कान बहुत तीक्ष्ण होते हैं, आंखें बहुत जिज्ञासु होती हैं, वे देखते हैं कि उनके बुजुर्ग क्या देखते और कहते हैं? इस प्रकार वे अपने आप उनसे व्यवहार का प्रशिक्षण प्राप्त कर लेते हैं।

(ब) व्यक्तिगत कारण—

(1) जटिल भय—'चिन्ता वेश बदले हुए रूप में भय है और भय का सामना आत्मविश्वास से करना चाहिए' (स्वामी शिवानन्द ने कहा है जो कि हिमालय के सर्वोच्च सन्त हैं)। स्वामी विवेकानन्द, विश्वविख्यात भारतीय साधु लिखते हैं—'या तो इस दुनिया में या धर्म की दुनिया में यह सत्य है कि भय एक निश्चित पतन और पाप का कारण है। भय ही तकलीफें और दरिद्रता लाता है, भय मौत लाता है, भय ही बुराइयों को उत्पन्न करता है।'

भय तमाम दानवीय बुराइयों का जनक है। यह स्वयं द्वारा उत्पन्न दानव मनुष्य का प्रमुख शत्रु है। जब दिन के अन्दर भय हमारी आवश्यक बुराई बन जाता है तो यह रात्रि में हमारी मानसिक ऊर्जा और हमारी मानसिक शांति का भारी विनाश करता है, यह दिमाग को तनावग्रस्त, स्नायु रोग ग्रस्त और हमें पूर्णतया हिला डालता है, इन अन्तहीन चिन्ताओं के कारण। एक रोगी जिसे एक स्वस्थ कुत्ते ने काटा है परन्तु वह भयभीत है कि उसे एक पागल कुत्ते ने काटा है। चिन्ता के कारण वह व्यक्ति हाइड्रोफोबिया के लक्षण स्वयं विकसित कर लेता है और उस हताशा भरे दौर (फिट्स में) में वह अपने आप को गोली मार लेता है।

एक बच्चे को भय की अवस्था में रखना निश्चित रूप से एक अपराधी को जन्म देना है। बचपन का अविवेकशील भय बाद में जटिल भय के रूप में विकसित होता है। भय ज्यादा मनुष्यों को मारता है बनिस्बत बीमारी और युद्ध की तुलना में। एक महामारी के प्रकोप के समय उचित बीमारी से मरने की तुलना में उस बीमारी के भय से ज्यादा लोग मरते हैं।

जब एक व्यक्ति में भय विकसित हो जाता है तो वह हर वस्तु से भय खाने लगता है। यहाँ तक कि अपनी छाया से भी भयभीत हो जाता है। वह भयभीत होने से डरा-डरा रहता है।

(2) भावनात्मक बल का पथभ्रष्ट होना—भावना जीवन को अग्रसर करने का मुख्य बल है। यह मनुष्य जीवन के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि रेलवे इंजन के लिए भाप महत्त्वपूर्ण है। बिना भावनात्मक सहायता के कोई भी न तो मजबूती से जी सकता है न ताकतपूर्वक कार्य कर सकता है। साफ-साफ सोचना और गहराई से महसूस करना—ये जीवन में विजय के दो सिद्धांत हैं। परन्तु जब भावनात्मक बल का दुरुपयोग होता है या वह पथभ्रष्ट होता है तो वह अपने विरुद्ध कार्य करने लगता है न कि बाधाओं के विरुद्ध। क्रोध एक बहुत शक्तिशाली भाव है जिसका उपयोग हम शत्रु को समाप्त करने में लाभप्रद ढंग से कर सकते हैं। परन्तु यदि एक मनुष्य भावनात्मक रूप से अस्थिर है और अपने भय को काबू में रखने के बजाय स्वयं भय के काबू में हो जाता है तो उसका क्रोध किसी और को मारने की बजाय स्वयं उसी को मार डालता है। बेकाबू क्रोध एक भयानक हत्यारा है। व्यक्ति स्वयं को मार डालता है किसी और के बजाय। भावनात्मक बल का पथभ्रष्ट होना एक तोप के मुंह को स्वयं अपनी तरफ मोड़ने के समान है। भावनात्मक बोझ हमारे मस्तिष्क और हमारे शरीर, दोनों के लिए असहनीय है। एक मस्तिष्क जो अचानक भावना की रुकावट या सहज प्रवृत्ति के कुचले जाने की वजह से तकलीफमय और परेशान होता है वह एक बॉयलर के समान विस्फोटक भाव जैसा होता है या एक बारूद के ढेर के समान होता है।

(3) अपराधबोध और अपराध के कारण मानसिक जटिलता—कमजोर दिमाग जिसमें एक स्वच्छ चारित्रिक दृष्टि की कमी होती है उसके अन्दर एक अजीब अपराध की भावना होती है यहाँ तक कि निर्दोष मामलों के सम्बन्ध में भी। वह उन पर भूत की तरह मंडराता रहता है और उन्हें चिन्तायुक्त पागलपन की ओर धकेल देता है। अपराधबोध तनाव, संघर्ष, असामंजस्य और स्नायुदुर्बलता उत्पन्न करता है। स्वामी रामतीर्थ के शब्दों में 'पाप का अर्थ है पथभ्रष्ट ऊर्जा।' वे लोग जो वास्तव में कुछ अपराध करते हैं उनके पैर निरन्तर कांपते रहते हैं और भय रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि वे पुलिस द्वारा पकड़ लिए जाएं। परन्तु यहाँ कुछ ऐसे भी लोग हैं जो जटिल अपराधबोध से ग्रस्त हैं, बिना वास्तव में कोई अपराध किए। यह विरोधाभासी बात है जो अपराध के लिए मजबूर हैं उनकी भावनाएं अपराध के प्रति बहुत कम बोध महसूस करती है। वे सबसे अधिक दयनीय शिकार होते हैं चिन्तारूपी भेड़िये का।

(4) हीन भावना—बुजुर्गों द्वारा बच्चों में हीन भावना उत्पन्न करना एक जहर का इन्जेक्शन देने से भी ज्यादा जहरीला है। काटने वाली आलोचना करना, बार-बार गलतियाँ निकालना, निरन्तर उसे निरर्थक, भीरु, असफल जताना—यह तमाम चीजें जवान लोगों के मस्तिष्क में हीन भावना भरने का प्रयास है। ऐसा व्यक्ति अपने आपको हमेशा हीन मानता है और अक्सर चिन्तित रहता है कि वह सफल नहीं हो सकता। एक पौराणिक संस्कृत साहित्य के श्लोक के अनुसार 'जो व्यक्ति अपने आपको स्वयं धिक्कारता है और स्वयं से नफरत करता है उसे यश की उपलब्धि शायद ही हो सकती है।'

(5) उच्चता बोध ग्रस्त—उच्चता बोध के सम्बन्ध में और उसके स्वभाव के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है, कुछ का यह मानना है कि यह मात्र हीन भावना को ढकने का लबादा है। यहाँ उच्चता बोध से हमारा अर्थ अपने आदर को बढ़ा-चढ़ा कर प्रदर्शित करना और जो कि ऐसे लोगों को चिन्ता युक्त कर डालता है। एक व्यक्ति जो उच्चता के बोध से ग्रस्त है वह अपने आप को अपनी वास्तविक स्थिति से ऊँचा मानता है। बनावटीपन जीवन की एक सबसे बड़ी कमजोरी है। यदि एक व्यक्ति अपने आप को ज्यादा धनी दिखाने का प्रयास करता है जितना कि वास्तव में वो नहीं है तो वह किसी और को धोखा न देकर स्वयं अपने आप को धोखा दे रहा है। हमारा झूठा घमण्ड और दिखावा हमें अधिक तकलीफ पाने को बाध्य करता है फिर भी हम इसे बाहरी दिखावे को बनाए रखते हैं। एक दिखावा करने वाला व्यक्ति वास्तव में लोग क्या सोचते हैं इससे भयभीत रहता है और वह अपने बाहरी घमण्ड के दिखावे को बनाए रखने की बहुत बड़ी कीमत चुकाता है।

(6) परवाह न करने का दिखावा करना—व्यर्थ बनावटी दिखावे से व्यक्ति के अंदर एक बेपरवाही के दिखावे की त्रासदी उत्पन्न होती है। एक व्यक्ति वास्तव में किसी चीज के प्रति चिन्तित महसूस करता है परन्तु झूठे घमण्ड के दिखावे के कारण वह बहाना करता है कि उसे कोई लेना-देना नहीं है। यह केवल मात्र बाहरी मुखौटा है चिन्ता के एक राक्षसी चेहरे का। इससे अधिक एक चिन्ता के कीड़े की उत्पत्ति की जमीन है।

(7) खतरे की आशंका—अनजाने खतरे की आशंका का हर वक्त भय, एक ऐसे चिन्तित व्यक्ति को भविष्य के प्रति काल्पनिक आशंका का भय बनाए रखता है जो निश्चित नहीं होता। कोई सम्भावित हानि, असफलता या अनादर का भय एक व्यक्ति को हजार गुना ज्यादा तकलीफ देता है, बनिस्बत भविष्य में वास्तविक खतरे की तुलना में। भविष्य हो सकता है कि भूतकाल से ज्यादा अच्छा हो या वर्तमान से भी ज्यादा अच्छा हो परन्तु हमारी तकलीफ की आशंका इसे तकलीफदायी बना देती है। कुछ लोग वास्तव में अपंग हो जाते हैं मात्र इस कारण से कि वह छोटे से इलाज के लिए किसी शल्य चिकित्सक के पास नहीं जाते। जीवन के शुरुआत में क्योंकि वे तकलीफ से आशंकित हो जाते हैं। हम में से अधिकतर उस खतरे की आशंका के कारण भयानक तकलीफें भोगते हैं जो खतरा कभी भी घटित नहीं होता। निरन्तर अरुचिकर सम्भावनाओं का विचार करते रहने से हमारे जीवन की खुशियाँ ज्यादा नष्ट होती है।

(अ) मनन—तकलीफदायक अनुभवों का जो भूतकाल में घटित होती थीं या संभावित संकटों के बारे में या भविष्य के विनाश के बारे में निरन्तर मनन करना मनुष्य के विचारों की एक अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण त्रासदी है। चिन्ताओं का कठफोड़वा एक मनन करने वाले के हृदय में निरन्तर ठक-ठक चोट मारता रहता है।

(8) निकम्मापन, अनिर्णय और हिचकिचाहट—आलस्य से मस्तिष्क उदासीन हो जाता है और मस्तिष्क को खाने वाले चिन्तारूपी कीड़ों को आमन्त्रित करता है, और जल्द ही पापरूपी मकड़ी एक निकम्मे जीवन में अपने जाल रूपी कक्ष का निर्माण शुरू कर देती है।

कमजोर इच्छाशक्ति वाले लोग जोकि अनिर्णय व हिचकिचाहट के कारण तकलीफ पाते हैं, वे आसानी से चिन्ता का शिकार हो जाते हैं। कर्मशील रहने में खुशी मिलती है, अनिर्णय से तकलीफ होती है और हिचकिचाहट के कारण चिन्ता की धारा घेरे रहती है। एक अस्थिर और अनिर्णयशील दिमाग लगातार चिन्ता के पागलपन की हद तक घूमता रहता है और जीवन को एक जीवित नरक बना देता है।

(9) आवश्यकता से अधिक ध्यान देना—उचित परवाह करना मानसिक स्वास्थ्य की निशानी है। लापरवाही एक दिमाग की कमजोरी की निशानी है।

अत्यधिक ध्यान देना एक दिमागी बीमारी है। आवश्यकता से अधिक परवाह करना और अत्यधिक चिन्तित होना, बजाए इसके कि दिमाग सतर्क और सतर्क हो, दिमाग चिंता के कारण अपंग हो जाता है। एक माँ जो अपने बेटे के लिए अत्यधिक चिन्ता करती है वह सामान्यतया उसे जरूरत से ज्यादा मातृत्व देती है और उसे आत्मनिर्भर होने से वंचित करती है, इस प्रकार उसे चिन्ता रूपी भयानक भेड़िये का शिकार बना देती है।

(अ) अत्यधिक मानसिक जागरूकता—जागरूकता एक चारित्रिक अच्छा गुण है परन्तु अत्यधिक जागरूकता एक मानसिक बीमारी है, अत्यधिक जागरूकता या अत्यधिक चारित्रिक विचारशीलता, एक भय या अपराधबोध का नतीजा है, 'कहीं ऐसा न हो कि मुझसे कुछ गलत हो जाए', और इस कारण अत्यधिक चिन्ता होती है। हम एक अपूर्ण दुनिया में रहते हैं और हम आशा करें कि दूसरा व्यवहार कुशल होगा। और उसके किसी तुच्छ नियम को तोड़ने पर हम झल्लाएं या गुस्सा करें तो यह व्यक्ति स्वयं अपने लिए अनावश्यक सिरदर्द और चिन्ता आमन्त्रित करता है।

(10) सन्देह और अन्धविश्वास—'हमारे संदेह देशद्रोही हैं, अक्सर हम जो अच्छाई जीत सकते हैं उसे खो देते हैं, क्योंकि हम उनके प्रयास करने में भयभीत होते हैं।' (शेक्सपियर, साहित्यकार)

'हार सन्देह की जुड़वां बहिन है'—एक अन्य विचारक ने कहा है। वे दोनों एक साथ पाए जाते हैं। शक दरवाजे पर गलत का प्रश्नचिह्न लगाता है, उसका साथी हार (या पराजय) कदमों की आहट करता हुआ आता है।

सन्देह एक अत्यधिक कपटी दुश्मन है जो छुपकर घात लगाए रहता है, वह हमारी आशाओं को फाड़ डालता है, हमारी महत्त्वाकांक्षाओं को बीमार कर देता है और हर मोड़ पर हमारा रास्ता रोक देता है। चालाकीपूर्वक हमारे कान में फुस-फुसाता है, 'तुम सफल नहीं हो सकते।' सन्देह हर सम्बन्धों के लिए जहर है। बचपन की भूतों और भालुओं की कहानियाँ, चुडैलों और भूतनियों की कथाएं अतिसंवेदनशील मस्तिष्क में घुसा दी जाती हैं। बच्चों के शिशुकालीन खेलों में, जो उसके दिमाग में उपद्रव मचाती हैं और हर कदम पर एक विरोधी छाया के रूप में चलती हैं। लार्ड पॉलिंग ब्रांक के शब्दों में 'संदेह केवल मात्र जीवन का आधारहीन दुर्भाग्य है।' इमर्सन ने सही कहा है—'संदेहवृत्ति एक धीमी आत्महत्या है।'

(11) कल्पना के दोष—कल्पना का उपयोग एक काव्य के लिए उपहार है, जोकि कला के सृजन की ओर ले जाती है, परन्तु कल्पना का दुरुपयोग एक मस्तिष्क का पाप है जो जीवन जीने की कला के लिए अभिशाप और मौत है। अधिकतर लोग पालने से कब्र तक अपनी यात्रा एक मण्डराते हुए भय को लिए हुए

परेशान होते हुए पूरी करते हैं। जोकि मात्र एक कल्पना का दलदल है, और इतना ही अवास्तविक है जितना कि साबुन का बुलबुला है। 10 में से 9 मामलों में ऐसा भय है जो कभी घटित नहीं होता। 'हजारों तकलीफमय आत्माएं आज कल्पना के बन्धन की जंजीरों में जकड़ी हुई हैं।' डा. डब्ल्यू एल सेडलर ने कहा है, 'उन्हें कोई वास्तविक शारीरिक बीमारी नहीं होती है उनकी बीमारी वास्तव में केवल मानसिक अपंगता है।'

(अ) अनिश्चित भविष्य—कुछ लोग यह कल्पना करते रहते हैं कि उनका भविष्य अनिश्चित है, वे एक निरन्तर भय में जीते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि रोजगार चला जाए, धन लूट लिया जाए या मकान जल जाए। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार 'गलत निर्देशित कल्पना या विचार मनुष्य को बांधते हैं जबकि सही दिशा में निर्देशित उसे मुक्त करते हैं।'

(ब) दिन में सपने लेना—वर्डस्वर्थ के अनुसार 'जिसमें बल की कमी होती है वह वास्तविक रूप में काम करने की जगह दिवास्वप्न में खोया रहता है, वह काल्पनिक बीमारियाँ आविष्कृत कर लेता है और काल्पनिक खतरे खड़े कर चिन्ता करता है।

(12) भीरुता और निराशा—आत्मनिर्भरता की कमी, निराशा और हतोत्साह—ये चिन्ता के जीवन भर के साथी होते हैं। एक निराशावादी जो चीजों के नकारात्मक पक्ष को ही देखता है, उसे इस जीवन रूपी सड़क पर चिन्तारूपी अनगिनत कांटे चुभते रहते हैं। निराशावादियों के लिए जार्ज बर्नार्ड शॉ ने एक अच्छी चोट करने वाली बात कही है—'निराशावादी वह व्यक्ति है जो यह सोचता है कि हर कोई (उस जैसा ही) खराब व्यक्ति है इसके लिए वह उनसे घृणा करता है।'

एक हताश व्यक्ति ढेरों चिन्ताएं पाले रखता है जिसका नतीजा यह होता है कि उसका पोषण होने के बजाए वह क्षीण होता जाता है। हमें कभी नहीं भूलना चाहिए कि 'जिसका साहस खत्म हो जाता है उसकी नाव डूब जाती है अर्थात् डरा सो मरा।'

(अ) स्वयं पर दया—तमाम दया में सबसे अधिक दयनीय स्वयं पर दया करना है। दया दैवीय वस्तु हो सकती है किन्तु स्वयं पर दया आत्मघाती है। जो लोग अपने आप पर दया करते हैं, वे चाहे मुलायम गद्दों पर लेटे हों, वे अपने स्वयं के भाग्य पर दया करते रहते हैं। वे स्वयं विचारित जहर से तकलीफ पाते हैं और विनाशकारी मानसिक प्रक्रिया से यंत्रणा पाते हैं।

(13) मानसिक दबाव व तनाव—थोड़ा सा तनाव भी ऐसा है जैसे चुटकी भर जहर है। यह मनुष्य को तनाव ग्रस्त और चिन्तित रखता है। आधुनिक

व्यक्ति के जीवन में बहुत सारा लोहा आग में तप रहा है जिसका मस्तिष्क घृणा, ईर्ष्या, स्वार्थ से विदीर्ण हो रहा है। वह ठीक एक काँच के मकान में दौड़ते पागल कुत्ते के समान है। उसके स्नायुतंत्र निरन्तर खिंचे रहते हैं, उसका मस्तिष्क तमाम चिन्ताओं से ग्रस्त रहता है। वह एक गुस्सैल दिमाग पाता है जिसे उसे काबू में रखना मुश्किल पाता है।

(अ) झल्लाहट (चिड़चिड़ापन)—अगर एक व्यक्ति मामूली बातों पर अक्सर झल्लाता है तो यह उसकी दिमागी कमजोरी का एक निश्चित चिह्न है। हालांकि चिन्ता भी झल्लाहट पैदा करती है, जबकि झल्लाहट खुद भी एक मानसिक वातावरण पैदा करती है जो चिन्ता के लिए बहुत उपयुक्त है।

(ब) जल्दबाजी लाती बर्बादी—जल्दबाजी के कारण चिंता उत्पन्न होती है, जल्दबाज लोग स्नायु दुर्बलता से त्रस्त, झल्लाहट भरे, क्रोधी और चिन्तित हो जाते हैं। मार्डन के अनुसार 'एक जल्दबाज दिमाग एक उलझन भरा दिमाग होता है और जो व्यक्ति अनिश्चित है वह गलतियों को ही टटोलता है, अपना प्रयास व्यर्थ में ही गंवाता है। जल्दबाजी चिन्ता की जुड़वां बहिन है।'

(14) आत्मकेंद्रिकता—एक व्यक्ति अत्यधिक अपने बारे में सोचता है, अपने स्वास्थ्य, अपनी निद्रा, अपनी खुराक या कोई और वस्तु के बारे में सोचता है जो उसे कही गई, की गई या न की गई है वह उसके लिए एक चिन्ता का स्रोत हो सकती है। वह निराशा भरे चिन्तित विचारों से घिरा तकलीफ पाता है और सोचता है कि हर कोई उसके विरुद्ध षड्यंत्र कर रहा है। एक अकेलेपन व आत्मकेंद्रित व्यक्ति एक ऐसा असामाजिक प्राणी होता है जो कि भययुक्त निराशा से भरे विचारों से घिरा रहता है और वह किसी भयानक बीमारी का रोग पाल लेता है जिसे हम 'सिजोफ्रेनिया' कहते हैं। (विचार, भावना व व्यवहार में असामंजस्य)

(15) कुंठा भरी नाराजगी में बड़बड़ाना—किसी गलत के प्रति शिकायत मानसिक जागरूकता का चिह्न है। परन्तु एक शिकायती और नाराज मानसिकता एक मानसिक विकृति को दर्शाता है। एक कमजोर एवं रोगी मस्तिष्क ज्यादा कुंठित होता है। नाराजगी व्यक्ति को उच्च तनाव में ले जाती है, उच्च रक्तचाप, हृदय रोगी बनाती है। अपने प्रति किए गए बुराई और दुर्भाग्य को बारम्बार दुहराने वाला व्यक्ति अपने अन्दर ज्यादा दुर्भाग्य, बुराई व चिन्ताओं के बीज बोता है। कुछ लोग बार-बार अन्य लोगों की अहसानफरामोशी की शिकायत करते हैं, और इस प्रकार अपने स्वयं के लिए व्यर्थ का सिरदर्द व हृदय की तकलीफों को आमंत्रित करते हैं। उनका जीवन एक अन्तहीन जाल में उलझ जाता है जो कड़वाहट भरी शिकायतों, भयानक नाराजगी व स्वयं पर दया करती आहों से बना होता है।

(16) घृणा, ईर्ष्या व दुश्मनी—दुश्मनी, ईर्ष्या को उत्पन्न करने की जगह है, ईर्ष्यालु व्यक्ति निरन्तर हृदय की जलन और क्षय करने वाली चिन्ता की बीमारी का शिकार हो जाता है। डेल कार्नेगी ने टिप्पणी की है—'जब हम हमारे दुश्मन से घृणा करते हैं तो हम अपने दुश्मन को शक्ति प्रदान करते हैं और उसे हमारी नींद, भूख, रक्तचाप, स्वास्थ्य और हमारी खुशियों पर विजय पाने की शक्ति प्रदान कर देते हैं। हमारे दुश्मन खुशी से नाच उठेंगे यदि उन्हें यह मालूम हो जाए कि वे हमें चिन्तित कर रहे हैं, कि वे हमारे पर चिन्ता के कोड़े लगा रहे हैं, इस प्रकार वे हमसे बदला चुका रहे हैं।' हमारी घृणा उन्हें चोट नहीं पहुँचाती बल्कि हमारी घृणा उलट कर हमीं को नुकसान करती है और हमारे दिन और रातों में नारकीय उथल-पुथल मचा देती है।

दिमागी भटकाव इसकी-उसकी चिन्ता या दिमाग में तुच्छ चिन्ताओं के विचारों की भीड़ और ईर्ष्या आदि दिमागीय आदत ठीक वैसी है जैसे हमारी दिमागी भण्डार में से एक छिद्र की तरह है जहाँ से निरन्तर संचित शक्ति बाहर बह रही है और सफलताओं के अवसर को कम कर रही है।

एक बेकाबू मानसिक अवस्था एक कमजोरी की स्वीकारोक्ति है। एक व्यक्ति स्वयं पर जो काबू नहीं पा सकता वह दूसरों को काबू करने के योग्य नहीं होता।

एक व्यक्ति जो घृणा से भरा हुआ है तथा ईर्ष्या से विदीर्ण है, उस व्यक्ति का दिमाग एक दिमागी गन्दी बस्ती है जो कि एक वास्तविक झुग्गी-झोपड़ी वाली बस्तियों से भी ज्यादा खराब है।

(17) गलत जगह पर सहानुभूति—जिस तरह से हर एक वस्तु जो सही जगह पर नहीं रखी है, उसी तरह गलत जगह पर सहानुभूति भी एक बुराई है। ज्यादा चिन्तित व्यक्ति के नजदीकी सम्बन्धी उसको तसल्ली देने में ज्यादा रुचि रखते हैं और उसकी भलाई के लिए इतना अधिक प्रयास करते हैं कि वे निरन्तर उसको याद दिलवाते हैं उसकी कठिनाइयों को, जिन्हें वह खुद भुला देता है। यह दोस्तों और सम्बन्धियों द्वारा व्यर्थ की गई अत्यधिक चिन्ता एक चिन्ता सम्बन्धी बातों का वातावरण तैयार कर देती है। चिन्ता एक छूत की बीमारी है, वह सहानुभूति जताने वाले व्यक्ति से चिन्ता के कीटाणुओं को उस व्यक्ति में स्थानान्तरित कर देती है जिसके प्रति वो सहानुभूति जताते हैं। एक चिन्तायुक्त व्यक्ति के भाग्य पर जो दया जताने आते हैं, वे आमतौर से उस व्यक्ति को चिन्ता के गड्ढ़े में और गहरा धकेल देते हैं।

(18) अज्ञानता—चिन्ता एक छुपा हुआ भय है और भय अज्ञानतावश उत्पन्न होता है। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार 'वास्तविकता में अज्ञानता ही तमाम ईर्ष्या और भय का कारण है।' डॉ. हरबर्ट ई हॉकिंज के अनुसार, 'दिमागी उलझन चिन्ताओं

का मुख्य कारण है।' हम उन चीजों से डरते हैं जिन्हें हम समझ नहीं पाते, समझ की कमी और अपने आप पर काबू की कमी हालात में भय उत्पन्न कर देती है।

(19) बिना कारण के कारण (तुच्छ मामलों में)—छोटी और तुच्छ चीजें जिनका कोई ज्यादा मतलब नहीं होता, वे व्यक्ति को पागलपन तक ले जाती है और आधे से ज्यादा हृदयाघात जगत् में इसी कारण से होते हैं। हम जीवन में बड़े विनाशों का सामना कर लेते हैं परन्तु छोटे विनाश के आगे घुटने टेक देते हैं और हमारे गर्व को थोड़ी-भी चोट हमें चकनाचूर कर डालती है। जैसे जंगल का विशाल वृक्ष जिसे वायु सुखा नहीं सकी और धूप जला नहीं सकी, उसे छोटे क्षुद्र कीड़े खा जाते हैं। ठीक इसी प्रकार एक दानवीय शरीर वाले व्यक्ति के हृदय में भी अगर भय भर दे तो उसे चिन्ता रूपी कीट खा जाता है।

(20) आदत की ताकत (आदत से लाचार)—चिंता एक सीखी हुई भावनात्मक आदत है। चिन्ता किसी भी कारण से शुरू हो सकती है परन्तु एक बार आदत बन जाए तो आदत की ताकत स्वयं एक ताकतवर व्यक्तिगत कारण हो जाता है जो कि और अधिक नयी चिंता उत्पन्न करती है। एक आदतन चिन्तित व्यक्ति ज्यादा खराब है, बनिस्बत एक नई-नई अवस्था में चिन्तित व्यक्ति के, क्योंकि वह ज्यादा चिन्तित होता है, जिसका कारण किसी सही चिन्ता के कारण की जगह उसके अन्दर से उत्पन्न दबाव होता है।

चिन्ता निवारण के उपाय (इलाज)—किसी बीमारी के लक्षण और परीक्षण के बाद इलाज का नम्बर आता है। चिन्ता का इलाज हम इस तरह वर्णन कर सकते हैं कि वह बहुत से साधन जिससे चिन्ता के कारण को समूल नष्ट किया जा सके या हटाये जा सके—

(1) जीवन में रुचि उत्पन्न करना—ध्यान को बनाए रखने का सबसे बढ़िया साधन है रुचि उत्पन्न किए रखना और रुचि एवं ध्यान से कार्य करने की इच्छा उत्पन्न होती है। कार्य ही जीवन को महत्त्व प्रदान करता है अतः जीवन का अंतिम विश्लेषण उसे उपयोगी ढंग से जीने में है, वह तब तक है जब तक उसमें हमारी रुचि है। उबाऊपन, एकरसता, थकावट और हताशा इसको दूर भगाने का सबसे अच्छा तरीका जीवन के प्रति नयी रुचि पैदा करना है।

(क) जीवन के प्रति प्रसन्नचित्त दृष्टिकोण—चिन्ता को भगाने का एक सुनहरा नियम है कि जीवन के प्रति एक प्रसन्नता भरा व उल्लासपूर्ण दृष्टिकोण उत्पन्न करना। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण उद्घोष करते हैं—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। 2/65

अर्थात् प्रसन्नता तमाम दरिद्रताओं का अन्त करती है और एक प्रसन्नचित्त दिमाग आसानी से सन्तुलित बुद्धि प्राप्त करता है।

श्रीकृष्ण और कार्लायल एक जैसी घोषणा करते हैं—'तमाम कार्य ही पूजा है।' यहाँ तक कि सबसे निम्नतम धंधा एक प्रसन्नता से भर देने वाला अनुभव बन सकता है, बनिस्बत किसी भगवान् की पूजा के। यह सिर्फ इसके पीछे एक दिमागी दृष्टिकोण में परिवर्तन करके हो सकता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में भगवान् कृष्ण का मुस्कराता हुआ चेहरा हमें प्रेरित करता है कि हम जीवन के कुरुक्षेत्र में एक दैवीय मुस्कान से भरपूर चेहरा लिए हुए जिएं।

(ब) जीवन के संगीत को बजाना—

हां, हमारी यात्रा लम्बी और दुःख भरी है।
जिसकी आत्मा थक गई वह गाना गाये।
जो हृदय से भीरु है वह भी गीत गाये।।—(टैगोर)

स्वयं बलिदान करने वाले गीत गाकर मौत का उत्सव मनाते हैं और वो तोपों के सामने या फांसी के फन्दे के सामने भी प्रसन्नचित्त गीत गुनगुनाते हैं। जीवन अपनी धीमी या कठोर लय में एक संगीत है और उस समूहगान में सभी को अपना हिस्सा बंटाना चाहिए। जीवन के मधुर संगीत को एक शोकगीत में नहीं बदलने देना चाहिए। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं, 'समय से बाहर जीने वाले की उचित सजा है कि उसे वह लय में जिए।'

किसी सुन्दर कविता की कुछ पंक्तियाँ गुनगुनाओ या किसी गीत के टुकड़े को गाओ तो तमाम चिन्ता, उबाऊपन और हीन मनःस्थिति दूर भाग जाएगी।

(ख) जीवन के साथ तालमेल—जीवन का दूसरा नाम है तालमेल। पूरी जीवन रूपी सड़क पर तालमेल की आवश्यकता है। जब हम दुनिया को अपने अनुसार बदलने की कोशिश करते हैं तब हमें भी अपने आपको दुनिया के अनुरूप बनाना चाहिए। एक अच्छा, तालमेल युक्त जीवन हमेशा शांति बनाए रखता है और तमाम दिशाओं को रोशन करता है एवं प्रसन्नता की किरणें बिखेरता है।

(2) असफलता-सफलता की सीढ़ी है—असफलता कोई भविष्य नहीं है, कभी मत सोचो कि एक बार असफल हुए तो हमेशा असफल होंगे। हमें असफलताओं को एक खिलाड़ी की भावना के रूप में लेना चाहिए, कभी भी इनसे अपने आपको कुचला-दबा हुआ महसूस नहीं होने देना चाहिए। हमें उत्सुक होना चाहिए और अधिक संघर्ष करने के लिए और कठिनाइयों का सामना करना चाहिए और अधिक श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए। यहाँ तक कि नेपोलियन ने जितने

महत्त्वपूर्ण युद्ध लड़े उनमें एक-तिहाई में उसकी हार हुई। युद्ध हारे जा सकते हैं परन्तु युद्ध करना निरन्तर कायम रखना चाहिए।

(अ) जीवन के नुकसान से लाभ पाना—विश्व के अधिकतर महान् व्यक्तित्व महान् हो गए क्योंकि उन्होंने अपने जीवन के साहसिक कारनामे बहुत कठिन परिस्थितियों में उत्पन्न किए, जिससे उन्हें और ज्यादा प्रयास करने का जोश आया और ज्यादा श्रेष्ठ प्रयास किया। मिल्टन का अन्धापन, पिथोवंश का बहरापन, हेलेन केलर का अन्धापन और बहरापन। डार्विन की अपंगता, टालस्टाय का दुःख भरा घरेलू जीवन, प्रेमचन्द की दरिद्रता, लिंकन की गरीबी और तुलसीदास का शैशवावस्था में अनाथ होना, ये तमाम विरोधी हालात उनके लिए सहायक सिद्ध हुए और उन महान् लोगों पर अनन्त शान और अमर प्रसिद्धि की बरसात हुई, अतः जीवन के नुकसान के ऊपर रोने के बजाए किसी को उसमें से भी लाभ पाने का प्रयास करना चाहिए और इस प्रकार चिन्तारूपी भेड़िये को स्वयं से दूर करना चाहिए।

(3) अपनी कमियों में संतुष्टि एवं उसका उच्चता में रूपान्तरण—महान् शंकराचार्य ने कहा है—

को वा दरिद्रो हि विशाल तृष्णः।
श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः।।

अर्थात् गरीब कौन?—जिसकी अनन्त इच्छाएं हैं। और कौन है धनी?—वह जो पूर्ण संतुष्ट है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है—'वास्तविक गरीबी धन की कमी के कारण नहीं अपितु अत्यधिक लालच या न पूर्ण होने वाली जरूरत के कारण है' और आगे वे कहते हैं 'जीवन इतना पवित्र है कि इसे धन इकट्ठा करने में या छोटी तुच्छ चिन्ताओं में नहीं गंवाना चाहिए। जितनी अधिक आप कमी महसूस करेंगे उतनी अधिक चिन्ता बढ़ेगी।' अतः चिन्ताओं का इलाज आवश्यकताओं की आग, कामवासना और लालच को भड़काने में नहीं है परन्तु अपनी आवश्यकताओं का रूपान्तरण करके इनका मालिक बनने में है, न कि इनका गुलाम बनने में। अगर कोई व्यक्ति जितना ईश्वर ने उसको दिया उसी को महत्त्वपूर्ण माने, जो नहीं दिया उसका विचार न करे तो वह संतुष्ट रहेगा और चिन्ताओं से मुक्त रहेगा। डेल कार्नेगी, हेरोल्ड एबटगी की एक कहानी बतलाता है जो इसलिए चिन्तित था क्योंकि उसके पास पहनने को जूते नहीं हैं परन्तु वह ईश्वर का इतना आभारी हो गया जब उसने एक ईश्वर के प्रति कृतज्ञ मुस्कराता चेहरा उस व्यक्ति का देखा जिसके पैर नहीं थे। एबटगी कहता है कि 'मैं चिन्तित था क्योंकि मेरे पास जूते नहीं थे तब तक जब तक कि सड़क पर मैंने उस व्यक्ति को नहीं देखा जिसके पास पैर नहीं थे।'

अध्यात्मिक रूप से कहा जाए तो वह व्यक्ति जो तमाम कामनाओं से ऊपर उठ गया है, जो अच्छाइयों को उसी तरह बिखेरता है जैसे फूल अपनी खुशबू बिखेरता है या तारा अपना प्रकाश फैलाता है। स्वामी शिवानन्द के शब्दों में, 'सन्तोष ही स्वर्ग के इन्द्र का नन्दन-कानन है और शान्ति ही कामधेनु है जो तमाम इच्छाएं पूर्ण करती है।'

(4) विषम परिस्थितियों का सामना—केवल वही सर्वोत्तम प्राप्त करने लायक है जो अति विषम परिस्थितियों का सामना करने को तैयार है। अति विषम परिस्थिति भयभीत व्यक्ति को निगल जाती है परन्तु उस व्यक्ति की छाया से दूर भाग जाती है जो उसका डट कर सामना करने को तैयार है। लिन ह्यूतेंग ने सही कहा है—'मन की सच्ची शांति तभी आती है जब व्यक्ति अति-विषम परिस्थिति को स्वीकार करता है।' जीवन हर एक के लिए खतरनाक प्रयोग है, अतः यह खतरों के आगे, वास्तविक या काल्पनिक आंसू बहाने के लिए नहीं है। मार्डन कहता है, 'जब आप अति-विषम परिस्थिति को एक अनोखी मानसिक अवस्था के साथ स्वीकार कर लेते हैं तो आप अति-विषम परिस्थिति को सुधारने का प्रयास करते हैं। तब आप पाएंगे कि तमाम बाधाएं आशीर्वाद में बदल जाती हैं।' बिच्छू नाम का पौधा ठीक वैसे ही जैसा बिच्छू नामक पौधे के तमाम डंक भोथरे हो जाते हैं जब हम उसे मजबूती से पकड़ लेते हैं, इसी प्रकार विषम परिस्थितियों का अधिकतम जहर समाप्त हो जाता है जब हम उसका बहादुरी से सामना करते हैं।

(अ) अवश्यंभावी से समझौता—मनुष्य अपने प्रयासों से दुनिया का चेहरा बदल सकता है परन्तु कुछ वस्तुएँ हैं जो उसके सामर्थ्य से बाहर हैं। मनुष्य को अपनी सीमा जाननी चाहिए और अवश्यंभावी से समझौता कर लेना चाहिए। उसे ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए कि चीजें ज्यादा विषम नहीं हुईं। विलियम जेम्स बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह देता है—'जो कुछ घटित हो चुका है उसे स्वीकार कर लेना किसी भी दुर्भाग्य के नतीजों पर काबू कर लेने का प्रथम चरण है।' अगर हम किसी अकथनीय के घटित होने पर कड़वाहट और चिन्ता से भर जाएं तो हम इस अकथनीय को परिवर्तित करने लायक नहीं रहेंगे तथा इसकी जगह हम खुद विषम को बढ़ाने के लिए परिवर्तित हो जाएँगे। ईश्वर इच्छा के प्रति समर्पित होकर हम जीवन के पथरीले रास्ते पर झटकों और धक्कों को झेल लेना सीख जाएंगे।

(ब) भाग्य के प्रति समर्पण—अगर हमारे भाग्य में तकलीफ है, हमें इसका मुस्कान के साथ स्वागत करना चाहिए बजाए भौंहे सिकोड़ने के। यदि हम अपने भाग्य लेख में से एक या आधी लाइन को परिवर्तित या खारिज न कर सके। आंसू बहाकर भी, तो आंसू बहाने का क्या फायदा और अपने जीवन को नारकीय

बनाने का क्या फायदा? अगर कोई भाग्य है तो इसके बारे में चिन्ता करने का कोई फायदा नहीं क्योंकि वह तो घटित होगा। और यदि भाग्य नाम की कोई वस्तु है ही नहीं तो उसके बारे में सोचने का कोई फायदा नहीं क्योंकि कुछ भी पूर्व-निर्धारित नहीं है।

(5) तनावरहित—तनावरहित होना वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति पूर्णतया शारीरिक व मानसिक आराम में होता है जो कि अपने आप सुझाई गई स्थिति से उत्पन्न है। उद्वेलित मन एक बीमार मन है। तनाव मुक्ति से एक व्यक्ति अपने अत्यधिक कार्य से थकी हुई मांसपेशियों, थके हुए स्नायुतंत्र, थका मस्तिष्क और चिंतित मन को आराम प्रदान करता है। इससे आन्तरिक मानसिक तनाव दूर होता और पूरे तन्त्र में नयी ऊर्जा का संचार होता है और एक शान्त मन दुनिया के तमाम तनावों से मुक्त रहता है। परिणामतः तमाम चिन्ताओं से मुक्त रहता है। मानसिक तनाव मुक्त होना शारीरिक तनावमुक्ति से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। भगवद्गीता में यही उपदेश है कि तनावमुक्त मन से तमाम कर्म करने चाहिए।

'कहां गया वह जीवन जिसको जीने में हम खो बैठे?
कहां गई वह समझ जिसे हम ज्ञान के बीच डुबो बैठे?
कहां गया वह ज्ञान कि जो सूचना से हमने धो डाला?'

—टी.एस. इलियट

× × ×

'हम अब तक बहुत रो चुके हैं। अतः और क्रन्दन नहीं। अब अपने पैरों पर खड़े हों और मनुष्य बनें।'

—स्वामी विवेकानन्द

चिन्ता के दुष्प्रभाव

चिन्ता इतनी दुःखदाई होती है कि इसके दुष्प्रभावों को शब्दों में बांधना या वर्णन करना असंभव-सा है। हिन्दी भाषा के शिखर कवि जयशंकर प्रसाद ने चिन्ता के कुप्रभावों को इस प्रकार गिनाया है।

'इस ग्रह-कक्षा की हलचल! री तरल गरल की लघु लहरी, जरा अमर जीवन की, और न कुछ सुनने वाली बहरी।'

ओ, नक्षत्रो

ओ, भयंकर जहरीली लहर

ओ अमर जीवन की भी वृद्धावस्था

ओ, मूक-बधिर, दुष्ट डायन।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैथ्यू एन चैपल ने चिन्ता से उत्पन्न प्रभावों को इस प्रकार बताया है।

(1) चिन्ता करने वाला व्यक्ति अपने आप को दुःखी; हारा हुआ अनुभव करता है। विशेष रूप से सिर, पेट में अजीब हलचल महसूस करता है।

(2) वह हर समय संसार में भयभीत-सा रहता है। किसी अप्रिय घटना के डर से ग्रसित रहता है।

(3) ऐसा व्यक्ति स्वयं और दूसरों में भरोसा नहीं करता। उसे असफलता ही दिखती है—हर वस्तु उसे अस्तित्वहीन एवं गौण लगती है।

(4) वह अत्यधिक संवेदनशील, अन्तर्मुखी रहता है। मित्रों एवं परिवार के अन्य सदस्यों के कार्यों को संदेह की नजर से देखता है। वह धीरे-धीरे आत्मग्लानि से भर जाता है, जीवन को एक दुःखद प्रसंग बना देता है।

(5) वह प्रायः अशांत रहता है। छोटी-छोटी बातों से उद्विग्न हो जाता है।

(6) अधिक चिन्ता करने वाला व्यक्ति दिन में भी सपने देखता है, दुःखद जाल बुनता रहता है। वह इस मकड़ी के जाल से बाहर आने की इच्छा तो रखता है लेकिन बाहर नहीं आ पाता।

चिन्ताजनक दुःखदाई प्रभाव तो अनेक हैं—तथापि इन्हें मुख्यतया पांच श्रेणी में डाल सकते हैं—

क. यह मानसिक शांति का क्षय करती है।

ख. यह ऊर्जा का ह्रास करती है।

ग. अत्यधिक चिन्ता कई रोगों को जन्म देती है।

घ. चिन्ता व्यक्तित्व का विनाश करती है।

ड. यह एक मानसिक आत्महत्या के समान है।

मानसिक शान्ति का क्षय

अत्यधिक चिन्ता एक लुटेरे से भी अधिक भयंकर होती है। चिन्ता करने वाले व्यक्ति का चित्त भय और असुरक्षा की भावना से दहकता रहता है। उसके अंदर में हलचल और हृदय में घबराहट-सी होती है। श्वास गर्म और तीव्र चलती है। हाथ-पांव भारी एवं निष्क्रिय से लगते हैं। चिन्ता अत्यन्त बलशाली व्यक्ति को कुछ समय के लिये कमजोर और शक्तिहीन बना देती है। अतीव चिन्ता के समय वह शरीर में झटके एवं बार-बार पसीने का अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति मानसिक अवसाद से घिरा रहता है, भीड़-भाड़ से डरता है और अकेला रहना पसन्द करता है, पर वह अकेलेपन से डरता भी है।

चिड़चिड़ापन

ऐसा व्यक्ति मानसिक शांति खो देता है। छोटी-छोटी बातों पर तुनक जाता है—झगड़ पड़ता है। कभी-कभी वह भयंकर रूप भी धारण कर लेता है। इस समय वह मानव न होकर दानव या पशु जैसा व्यवहार भी कर सकता है। इन चिन्तामय क्षणों में मस्तिष्क में एक भयानक विष-सा पैदा होता है जो धीरे-धीरे सारे स्नायु तंत्र में फैल जाता है। एक दुःसह्य शिर में पीड़ा हो जाती है जो काफी समय तक रहती है। इसी के प्रभाव में अधिक चिन्ता करने वाला व्यक्ति कभी-कभी आत्महत्या भी कर बैठता है। ऐसा चिड़चिड़ापन चिंता का कारण एवं प्रभाव भी बन जाता है। सतत परिश्रम, सकारात्मक सोच ही प्राणी को इस कुचक्र से उबार सकते हैं।

बेचैनी

अत्यधिक चिंतित मन, चिड़चिड़ा हो जाता है, ऐसा व्यक्ति बेचैन-सा रहता है। क्रोध, आन्तरिक आवेग आते रहते हैं। चिन्ता मानसिक शांति की शत्रु है। जब व्यक्ति पहले से ही निर्बल होता है चिन्ता उसे और दबाती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मार्डेन के अनुसार चिन्ता हमारे कान में कहती है—'आप स्वस्थ नहीं हो सकते हो, बिलकुल असंभव।'

थकावट

यह बेचैनी का ही दूसरा रूप है। चिन्ता से व्यक्ति थका-सा रहता है। अधिक चिन्ता करने वाला प्राणी रात भर सोने के बाद जब सुबह उठता है तो भी थका-सा, शक्तिहीन अनुभव करता है।

चिन्ता एवं तनाव का कुचक्र

पहले तो कुछ मानसिक तनाव चिन्ता का कारण बनता है, फिर चिन्ता और तनाव को पैदा करती है। इस प्रकार तनाव और चिन्ता का कुचक्र चलता रहता है, दोनों एक-दूसरे को पैदा करते हैं और बढ़ाते रहते हैं। चिन्तित व्यक्ति इससे बाहर आने में असहाय सा हो जाता है।

अनिद्रा

अधिक चिंता करने वाला व्यक्ति बेचैन, थका-हारा मीठी नींद नहीं ले पाता है। चिन्ता से अनिद्रा होती है। क्योंकि चिन्ता करते-करते उसके दिमाग में अधिक रक्त का संचरण रहता है जिससे नींद दूर भाग जाती है। इसलिये अनिद्रा से छुटकारा पाने का सरल उपाय छोटी-छोटी बातों पर चिन्ता करना बंद कर दें। सीधी सी बात है अधिक चिन्ता करने से अधिक दिमागी कसरत। रक्त संचरण जो मीठी-सुखदाई नींद को दूर भगाता है।

घर में अशांति

अधिक चिन्ता करने वाला बेचैन व्यक्ति सुखद, मीठी नींद न आने के कारण चिड़चिड़ा-सा रहता है। घर के अन्य सदस्यों के लिये कलह का कारण बन जाता है। पूरे घर की सुख-शांति, चैन गायब से हो जाते हैं।

अशुभ स्वप्न

अधिक चिन्ता करने वाले की काल्पनिक परेशानियाँ उसकी नींद को हर लेती है और स्वप्नों में उसे तंग करती हैं। उसकी अपनी कमजोरियाँ उसके स्वप्न में भूत-प्रेत बन कर आती है। उसे त्रास देती है। इस प्रकार के व्यक्ति को दिन में या रात में शान्ति नहीं मिलती है।

शक्ति (ऊर्जा) का ह्रास—चिन्ता मनुष्य की ऊर्जा ह्रास का सबसे भयंकर कारण है। मनुष्य की शक्ति का ह्रास हो जाता है वह ऊर्जाहीन ठूंठ रह जाता है। सारी शक्ति नकारात्मक और आत्मघाती विचारों से धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है। चिन्ता प्रगति के पथ पर सबसे बड़ा विघ्न होता है।

आकांक्षाओं और ऊर्जा का घातक

चिन्ता मनुष्य की ऊर्जा को समाप्त करती है सद्प्रयासों को क्षीण और प्रेरणाशक्ति को कुंद करती है।

चिन्ता जीवनी शक्ति पर ग्रहण

जार्ज वार्टन जेम्स लिखते हैं—चिन्ता हमारे पुरुषत्व, स्त्रीत्व और उच्च अभिलाषाओं को समाप्त कर देती है। जीवन के वास्तविक सार का हरण कर हमें नीरस, खोखला, सारहीन और निराश बना देती है। यह जीवन में एक भयावह काला स्वप्न है जो जीवन के अच्छे गुणों का ह्रास कर उसे निस्तेज और अर्थहीन बना देता है। चिन्ता जीवन को अंधकारमय और विकलांग सा बना देती है। यह व्यक्ति को डरपोक और बौना बना देती है। मनुष्य अधिक अपराध, असफलताओं और आत्मघाती विचारों से घिरा रहता है।

मानसिक अवसाद—अत्यधिक चिन्ता पूर्ण विनाश का राजमार्ग है। मनुष्य की कार्यक्षमता, उत्साह आदि बहुत घट जाते हैं। रक्त ठंडा हो जाता है। स्नायु निःशक्त हो जाते हैं तथा मानसिकता एवं दृष्टि बहुत ही दुर्बल हो जाती हैं। वह हारा-सा, सताया-सा अनुभव करता है। प्रसिद्ध साहित्यकार रशॅकिन का कहना है, If the heart sinks, the boat sinks मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।

महंगा सौदा—कई अत्यधिक चिन्तित व्यक्ति चिन्ता को एक खेल समझ कर इससे घटिया, तुच्छ खुशी का अनुभव पाते हैं। यह बहुत ही महंगा सौदा है। इसकी कीमत रोग, दवाओं, चिकित्सकों के बिल, उत्पादकता का ह्रास और सामाजिक अशान्ति के रूप में चुकानी पड़ती है। चिन्ता ऐसे व्यक्ति की पीठ पर डायन-सी चिपकी रहती है, वह उसे तब तक नहीं छोड़ती जब तक जीवन रस (अमृत) समाप्त नहीं होता।

रोगों का उत्पादक (जन्मदाता)

जगद्गुरु शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है—

को वा ज्वरः प्राणभृतां हि चिन्ता
जीवित व्यक्ति की सबसे भयंकर व्यथा क्या है।
चिन्ता....चिन्ता....चिन्ता

जयशंकर प्रसाद जी ने चिन्ता को सब व्याधियों का निर्देशक बताया है।

अरी व्याधि की सूत्र धारिणी!
अरी आधि मधुमय अभिशाप!
हृदय गगन में धूमकेतु सी,
पुण्य सृष्टि में सुंदर पाप!

स्नायुतन्त्र भंग—william James प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का कहना है कि प्रभु हमें माफ कर सकते हैं लेकिन नर्वस सिस्टम (स्नायुतन्त्र) हमारी भूलों को कभी क्षमा नहीं करता। अधिक चिन्ता करने से हम अपना स्नायुतन्त्र खराब कर

देते हैं और मनुष्य केवल स्फूर्तिहीन, पुतला बन के रह जाता है। स्नायुतन्त्र की गड़बड़ी केवल व्यर्थ चिन्ता करने से होती है।

हृदय रोग—यह रोग पश्चिम में बड़ा घातक रोग है। दूसरे विश्वयुद्ध में लगभग तीन लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। इसी काल में लगभग 20 लाख व्यक्तियों को हृदय रोग हुआ जिनमें से लगभग 1 लाख तो मृत्यु को प्राप्त हो गये। इसका मुख्य कारण भी अधिक चिन्ता करना है।

पाचनतन्त्र दोष—हमारा पाचनतन्त्र भय और चिन्ता से दुष्प्रभावित होता है। किसी अप्रिय दुर्घटना का समाचार पाते ही हमारा मुख सूख जाता है गला खिंच जाता है और पाचनतंत्र का कार्य फेल हो जाता है। अधिक चिन्ता करने से भूख कम लगती है जिससे आहिस्ता-आहिस्ता कब्ज हो जाती है और अन्य रोग भी पैदा हो जाते हैं।

पेट के घाव

डॉ जोजोफ मॉनटेन का कहना है, 'जो आप खा रहे हैं उससे पेट के घाव नहीं होते, बल्कि जो आपको भीतर-भीतर खा रहा है उसी से पेट में घाव होते हैं। चिन्ता, भय और क्रोध हमारेएडरिनल ग्रन्थियाँ को उत्तेजित करते हैं जिससे उदर में घाव होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

मस्तिष्क क्षय—चिन्ता, क्रोध और ईर्ष्या मनुष्य की कार्यकुशलता और योग्यता को नष्ट कर देते हैं। हमारी शारीरिक और मानसिक शक्ति क्षीण हो जाती है जिसका दुष्प्रभाव हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है। मनुष्य मानसिक अवसाद में पड़ जाता है।

क्षयरोग एवं कैंसर—अधिक चिन्ता करने वाला व्यक्ति अपने रोग के बारे में ही सोचता रहता है। उसका मन अपने रोग पर ही केन्द्रित रहता है जिससे शरीर के प्रभावित अंग पर अधिक मात्रा में रक्त का प्रभाव जाता है। चिन्ता से क्षय रोग के कीटाणु भी तीव्र गति से बढ़ते हैं।

थाइराईड—अधिक चिन्ता से यह ग्रन्थि जिसका हमारे शारीरिक और मानसिक विकास में बहुत योगदान होता है, एकदम क्षीण और अस्थिर हो जाती हैं। जो शरीर और मन के लिए बड़ी घातक है। व्यक्ति कभी-कभी आत्महत्या का विचार भी बना लेता है।

मधुमेह—अधिक चिंता करने वाला मन कई रोगों का घर होता है। मधुमेह और गुर्दे का रोग भी इसी प्रकार शुरू होता है और बढ़ता जाता हैं। Dr. Harold Havein का मानना है कि विश्व में मुख्य व्यावसायिक संस्थानों के संचालकों

और प्रबंधकों में से बहुतों को तीन लाइफस्टाइल रोग होते हैं—हृदय रोग, मधुमेह या गुर्दे के रोग।

पीड़ा—अधिक चिंता करने वाले व्यक्ति को अक्सर हृदय में भयंकर पीड़ा का अनुभव होता रहता है। यह पीड़ा भावनात्मक असंतुलन और मनोवेग के कारण ही होती है।

दन्त क्षय व अन्य कष्ट—अमरीकी डेन्टल एसोसिएशन के डॉ. विलियम का कहना है कि चिन्ता, भय और अप्रिय संवेदनाएं शरीर में कैल्शियम बैलेन्स में गड़बड़ी पैदा करती है और इससे दन्त क्षय होता है। अधिक चिन्ता करने वाला व्यक्ति सिर दर्द, पेट दर्द या दन्त पीड़ा में शरण खोजता है। इससे उसे कुछ मानसिक शान्ति सी मिलती है।

व्यक्तित्व का विनाश—अधिक चिन्ता करने वाले व्यक्ति के चेहरे से उसकी मानसिक स्थिति का आभास हो जाता है।

चेहरे में विकार—मनुष्य का चेहरा उसकी मानसिक स्थिति का द्योतक होता है। मन में चिन्ता की आग और डाह, वैर-ईर्ष्या, क्रोध आदि बाहर चेहरे पर भी साफ झलकते हैं। मनुष्य दांत पीस लेता है और धीरे-धीरे उसके केश श्वेत हो जाते हैं और चेहरे का रंग भी बदल जाता है।

मानसिक आत्मघात—चिन्ता आत्महत्या से भी अधिक भयंकर होती है। आत्महत्या से तो मृत्यु बहुत शीघ्र आ जाती है किन्तु चिन्ता मनुष्य को तिल-तिल करके मारती है। मनुष्य का शरीर और मन भीतर ही भीतर आग के अंगारों की तरह सुलगते रहते हैं। हर नकारात्मक विचार मनुष्य का शत्रु और द्रोही है जो उसे मानसिक आत्महत्या की ओर ले जाता है। मानसिक आत्महत्या बहुत ही दुःखपूर्ण और हानिकारक होती है क्योंकि यह मनुष्य को घोर पतन के मार्ग पर ले जाती है। यह सब मनुष्य के सर्वोत्तम वर्षों को बिलकुल व्यर्थ बना देते हैं।

आन्तरिक कलह—दुःखी मन का कष्ट शारीरिक कष्टों से कहीं अधिक भयंकर होता है। चिन्ता मानव का नैसर्गिक स्वभाव नहीं है। हम गलत मान्यताओं और नकारात्मक सोच के कारण यह घातक मनोरोग अपना लेते हैं और दुःखी होते रहते हैं। हम शिव-संकल्प कर इस बुरी आदत को छोड़ सकते हैं।

Dale carnegic कहते हैं कि डाक्टरों के आंकड़े यह बताते हैं कि 5% अमरीकन दिमागी तौर पर बीमार होने के कारण अपने जीवन के शेष भाग को ऐसी संस्था में गुजारेंगे। दूसरे विश्वयुद्ध के लिये फौज द्वारा बुलाये गये अमरीकन युवाओं में से तकरीबन 16% इसलिये अस्वीकार कर दिये गये क्योंकि वे मानसिक तौर पर बीमार थे।

उत्सुक्त एवं संतापन्न व्यक्ति जो दुनिया के कटु सत्य का सामना नहीं कर सका, वह अपने वातावरण से सम्बन्ध विच्छेद करके अपने ऐकान्तिक, अव्यावहारिक एवं अपने ही स्वप्नलोक में रहता है और वह अपनी चिन्ताओं की समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करता है।

जब निर्दयी चीनियों द्वारा युद्धबंदियों को यातना देनी होती तो वे कैदी के हाथ-पाँव बांधकर पानी के भरे थैले के नीचे डाल देते जिससे बूँद-बूँद पानी टपकता रहता, इससे उन्हें मस्तिष्क पर हथौड़े का प्रहार लगता जिससे वह उन्मादी हो जाता। इस विधि को स्पेन और जर्मनी द्वारा कैदियों पर भी अपनाया गया। Dale carnegic के अनुसार चिन्ता पानी की इन बूँदों की तरह प्रहार करती है और इस तरह चिन्ता से उन्मादी बन जाता है।

मानव-जाति का गला घोंटना

चिन्ता इतनी अस्वाभाविक और क्षति पहुँचाती है कि अगर आदिमानव चिन्ताग्रस्त होता तो इस धरती पर मानव-जाति समाप्त हो गई होती। चिंतित आदिमानव का कोई शेष नहीं मिलता।

'जिन्दगी ऐसे सरकस का रूप ले रही है जिसका न कोई ढांचा दिखाई देता है न कोई लय और न कोई ताल। मनुष्य के भीतर बसने वाले ईश्वरीय रूप की उपेक्षा करने से आदमी बीमार हो गया है, उसकी आत्मा रुग्ण हो गई है।' प्रकृति इतनी पालतू तो बनाई नहीं जा सकती कि वह पग-पग पर मनुष्य की आज्ञा में चले। जब तक पूर्णता के दर्शन नहीं होते—जब तक सनातन की झांकी नहीं मिलती है तब तक मन की शान्ति बहुत दूर की आशा रहेगी, सुरक्षा की भावना सुखों की जननी है और यह भावना मनुष्य द्वारा प्रकृति पर विजय पाने से आने वाली नहीं है। इसके लिए हमें वस्तुओं पर नहीं स्वयं अपने आप पर स्वामित्व पाना होगा।'

—डा. राधाकृष्णन्

चिन्ताओं से मुक्ति पाएं

जीना भी एक कला है

सबसे बड़ी कला, क्योंकि अन्य सब कलाएं इसी कला पर आश्रित हैं 'सबसे महान् कलाकार वह है जो जीवन को अत्यन्त सुन्दर ढंग से जीता है।' महात्मा गांधी के इस कथन में कितना गहरा सत्य छिपा है। कोई चित्रकार यद्यपि एक सुन्दर चित्र बनाता है और उसका अपना जीवन कुरूप एवं दुःखी है, या कोई संगीतकार सुरीला गीत गाता है पर उसके जीवन में आन्तरिक संगीत है ही नहीं—ऐसे कलाकार कला के साथ न्याय नहीं कर पाते। सुखमय जीवन एक सुन्दर पुष्प की तरह होता है जो हर तरफ अपनी सुन्दरता एवं सुगंधि बिखेरता है।

चिन्ता एक दुःखद सत्य

जीवन रूपी पुष्प को चिन्ता कलुषित कर देती है, यह जीवन का अत्यन्त दुःखमय सोपान है—

चिन्ता चिता द्वयोर्मध्ये चिन्ता एव गरीयसी।
चिता दहति निर्जीवम, चिन्ता दहति जीवितम।।

जलती हुई चिता से भी चिन्ता अधिक भयंकर है। चिता तो केवल मृत को जलाती है किन्तु चिन्ता तो जीवित व्यक्ति को भी जलाती रहती है।

हिन्दी के प्रख्यात कवि जयशंकर प्रसाद माथे पर चिन्ता की लकीर को जीवन वन में घूमती हुई नागिन की तरह मानते हैं—

ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व वन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कंप सी मतवाली।।

चिन्ता क्या है

चिन्ता अपने आप को सताना है, स्वयं को मानसिक रूप से सताना है, आन्दोलित करना है—मानसिक अशांति को आह्वान है। आक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार चिन्ता किसी व्यक्ति को पूरे शरीर पर घाव देकर, दांतों से काटकर

झकझोरते रहने के समान है। जिस प्रकार एक भूखा भेड़िया किसी भेड़ या बकरी के नन्हे मेमने को तड़पा-तड़पा कर मारता है। ओ. एस. मैन्डन के अनुसार चिन्ता शब्द की उत्पत्ति एक ऐसी ध्वनि से हुई है जो एक निरीह पशु के मुंह से तब निकलती है जब वह किसी बड़े क्रूर पशु द्वारा बुरी तरह गला घोंटने से मर रहा होता है।

चिन्ता का अभिप्राय—शारीरिक एवं मानसिक संताप, पल-पल तड़पना और भयंकर अंतर्दाह है।

चिन्ता की परिभाषा ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार, 'चिन्ता मन की वह स्थिति है जो जीवन के उतार-चढ़ाव, क्षोभ या अकेलेपन से उत्पन्न होती है।

चिन्ता की परिभाषा—जॉन कैनेडी के अनुसार 'चिन्ता मन में उथल-पुथल है जो स्वयं को ठीक प्रकार समझा नहीं पाता।' स्वामी शिवानन्द बहुत सुन्दर ढंग से कहते हैं, 'चिन्ता मन की झील में एक आत्मघाती की तरह है इसका आरम्भ मूर्खता और अन्त पश्चात्ताप से होता है'। मैक डोनल्ड नेडल के अनुसार, 'चिन्ता मन की ऐसी थका देने वाली स्थिति है जब मनुष्य वर्तमान और भविष्य काल दोनों को इकट्ठा जीना चाहता है।' मनोविज्ञान शब्दकोश के अनुसार 'चिन्ता एक उत्तेजना है जिसमें अत्यधिक अवसाद या खुशी के कारण असन्तोष होता है।' विख्यात मनोवैज्ञानिक मैथ्यू एनू चेपल के अनुसार 'चिन्ता कुछ दुःखदायी विचारों का साथ है।' सारांश में चिन्ता काल्पनिक भय या दुःखदायी घटनाओं से सम्बन्धित उत्तेजना और मानसिक जटिल सभ्यता का अभिशाप है। मैथ्यू एन चैपल के अनुसार 'चिन्ता मानव मस्तिष्क का दुराचारी Perverted उपयोग है जो हमने धीरे-धीरे आधुनिक सभ्यता से ग्रहण किया है। चिन्ता करना मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव नहीं है यह तो उसने आधुनिक सभ्यता के दौर में सीखा है। आज का मानव कई सामाजिक और आर्थिक शक्तियों से घिरा है जिसके फलस्वरूप वह स्वतन्त्र रूप से कोई भी कार्य सोच या कर नहीं सकता। स्वेच्छा से वह चल फिर नहीं सकता, वस्त्र पहनना या भोजन नहीं कर सकता। हर कार्य में उसे सामाजिक मानदण्डों का ध्यान रखना पड़ता है। आज का मानव कई प्रकार से परतंत्रता से घिरा रहता है, अपने भविष्य और भाग्य को स्वयं ढाल नहीं सकता।

मन को काटने वाला आरा—जॉन कैनेडी के अनुसार—एक चिन्तित व्यक्ति का मस्तिष्क एक आरे की तरह आगे-पीछे चलता रहता है। मन हर समय किसी कठिन समस्या को हल करने में लगा रहता है जबकि वास्तव में कुछ भी नहीं करता। इस प्रकार चिन्ता करना असली काम करने का केवल एक दिखावा है। ऐसा व्यक्ति निरन्तर चिन्ता करने से कुछ सन्तोष पाता है किन्तु ऐसा सन्तोष बहुत हानिकारक है। यह व्यक्ति को अकर्मण्य बना देती है।

कल्पना का दुरुपयोग—कल्पना-शक्ति तो जीवन को अधिक उपयोगी और सुन्दर बनाने के लिये प्रभु की देन है। सभी कला और काव्य केवल उचित कल्पना से पनपता, बढ़ता है। किन्तु चिन्ता दुष्कल्पना को बढ़ाती है। मानव नकारात्मक विचारों के बहाव में काल्पनिक भय और अवसाद में डूबा रहता है। ऐसे व्यक्ति इसी कल्पना में सुख खोजते हैं जैसे शराबी व्यक्ति मदिरा में सुख ढूंढ़ता है।

अत्यधिक भय—प्रसिद्ध साहित्यकार वर्डस्वर्थ के अनुसार—'चिंता दिवास्वप्नों के रूप में उभरती है। फिर ऐसा भय और चिन्ता को पैदा करता है। इस प्रकार के कमजोर लोग अपने भय को बढ़ा कर चिंता के ताने-बाने बुन लेते हैं और व्यर्थ में दुःख झेलते रहते हैं। वीर व्यक्ति तो वास्तविक युद्ध में भी नहीं घबराते। पर, कायर युद्ध की भयानक कल्पनाओं से ही मृतप्राय हो जाते हैं। शेक्सपियर ने ठीक ही कहा है—कायर लोग मृत्यु से पूर्व भी कई बार मर जाते हैं। ऐसा व्यक्ति भय को बढ़ा-चढ़ा देता है जिससे चिन्ता गहरी हो जाती है। वह अकाल, दुर्घटना या तीसरे विश्वयुद्ध के काल्पनिक भय से घिरा रहता है। छोटी-छोटी बातों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर देखता है।

चिन्ता एवं वार्तालाप—जॉन कैनेडी के अनुसार जब हम किसी विषय के बारे में सोचते हैं या बातचीत करते हैं तो तटस्थ भाव से वार्तालाप करते हैं। वार्तालाप प्रायः कुछ लोगों में होता है चिन्ता एकांत में होती है। जब हम कुछ मित्रों से चिन्ता के बारे में बात करते हैं ऐसा वार्तालाप व्यक्तिगत चिन्ता से कम हानिकर होता है। ऐसा वार्तालाप संयम से होना चाहिए। अन्यथा चिन्ता का जीवाणु शीघ्र फैलता है एवं व्यक्तिगत चिन्ता से अधिक भयंकर हो सकता है।

चिन्ता एवं ध्यान—मनुष्य को समस्या से संवेदनशील होना चाहिये किन्तु चिन्तित नहीं। हमें सावधान रहना चाहिये। न तो लापरवाह और न ही अत्यधिक चिंतित हो। समस्या को सावधानीपूर्वक समझना चाहिये और उसका उचित समाधान निकालना चाहिये। चिन्ता के कारण हम समस्या को और गंभीर, और बढ़ा देते हैं। हम भय और चिन्ता के जाल में फंसते जाते हैं। चिन्ता के कारण छोटी समस्या भी बड़ी, दुष्कर एवं भयावह लगती है। चिन्ता भविष्य में होने वाले खतरे या मानसिक दुर्घटना की प्रक्रिया बन जाती है। बार-बार चिन्ता करने से स्नायु-तंत्र में रोग पैदा हो जाते हैं।

चिन्ता से सन्तोष का आभास

वर्डस्वर्थ का कहना है कि चिन्ता मनुष्य को किसी प्रकार का सन्तोष प्रदान करती है। कई व्यक्ति चिन्ता करने का स्वभाव एक मानसिक क्रीड़ा के रूप में अपना लेते हैं। कई बार माता अपने बाहर गए हुए पुत्र के विषय में बहुत चिन्ता

करती रहती है और फिर उसके घर लौटने को उत्सव की भांति मनाती है। वह इस प्रकार के काल्पनिक संकट से ही सुख-लाभ पाती रहती है।

चिन्ता का स्वभाव—हम स्वयं जिम्मेदार

चिन्ता करना जन्मजात स्वभाव नहीं होता। हमने स्वयं इसे पाला-पोसा होता है—बार-बार अभ्यास करके। वह इस गलत आदत को बिना इरादे ग्रहण कर लेता है। उसे पता भी नहीं चलता। फिर इस गलत स्वभाव को बार-बार अभ्यास कर पक्का कर लेता है। हम स्वयं इसके लिए जिम्मेदार हैं। कोई अन्य नहीं। हम पक्का इरादा कर संकल्प से इसे धीरे-धीरे छोड़ भी सकते हैं।

J.H. Holmes कहते हैं कि 'मैं तीन कारणों से नास्तिक नहीं हूं। पहला कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकता का सिद्धान्त अनुर्वर और रुढ़ि ग्रस्त होता है। दूसरा कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकों का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से नकारात्मक होता है। और तीसरा कारण यह है कि नास्तिकता किसी भी मर्म का उद्‌घाटन नहीं कर सकती। किन्तु सृष्टि का तकाजा है कि इसके रहस्यों का उद्‌घाटन किया जाए।'

× × ×

'जब तक भारत उस परम पुरुष परमेश्वर की खोज में लगा रहेगा तब तक यह अमर रहेगा, इसका कोई नाश नहीं कर सकता।'

—स्वामी विवेकानन्द

प्रवचन

समस्त इन्द्रियों को अपने अधिकार में रखना ही ब्रह्मचर्य है।

सदाचार रूपी आधार पर भजन रूपी भवन खड़ा होता है। जिनका सदाचार रूपी आधार ही दृढ़ नहीं है, उनका भजन रूपी भवन खड़ा ही नहीं हो सकता।

हम सभी सोये हुए या मूर्च्छा में या अर्धबेहोशी या अज्ञान में हैं, तभी हम पांच महापापों में प्रवृत्त होते हैं। यदि हम जागृत या ज्ञानावस्था में होते तो इस पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकते।

जब हम जागृत होते हैं, ज्ञानावस्था में होते हैं, तब यम-नियमों में प्रवृत्त होते हैं। अन्त में परमात्मा में लीन हो जाते हैं।

यम-नियम यानी सदाचार या बिना नैतिकता के हम धर्म कार्य में प्रवेश के अधिकारी नहीं हैं। न हम भक्तियोग, न कर्मयोग, न ज्ञानयोग, न राजयोग में प्रवेश के अधिकारी होंगे।

संसार स्वयं अशान्त है, गतिशील है, अस्थिर है, चंचल है, परिवर्तनशील, मरणधर्मा है, तो वह कैसे हमें शाश्वत शांति, स्थिरता, आनन्द, अमरता की स्थिति दे सकता है। जो चीज उसमें है ही नहीं वह हमें कैसे दे सकता है। जिसके पास जो है, वह वही दे सकता है, जब उसमें स्वयं शान्ति नहीं तब हमें कैसे शान्ति देगा। उसमें अशांति है, गतिशीलता व मरणधर्मा है तो उसकी उपासना से हमें उसी के गुण ही मिलेंगे।

अतः शांति स्थिरता बाह्य जगत में नहीं हमारे अन्दर ही है। इसलिये शान्ति बाहर न खोज करके अन्दर में खोजें। इसके लिये हमारी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने की आवश्यकता है।

आत्म और अनात्म विवेक अध्यात्म की प्रथम ईंट है जिसको जाने बिना अध्यात्म के मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकते हैं। यह प्रथम प्रश्न है, जिसके समाधान बिना अध्यात्म की प्रयोगशाला में हमें प्रवेश का अधिकार नहीं। अनात्मा क्या है—त्रिगुणमयी प्रकृति द्वारा पंचभूतों के पंचीकरण द्वारा निर्मित जगत जिसे

प्रपंच भी कहते हैं, जो बहिरंग है, इन्द्रिय गोचर है, परिवर्तनशील और अनित्य है। और आत्मा—तीनों गुणों से अतीत, प्रकृति का स्वामी, अन्तरंग, इन्द्रियातीत शुद्ध मैं का जो प्रकाश है, वही आत्मा है जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है।

अनात्म का व्यवहार लोक व्यवहार के लिये कर्तव्य पालन के लिये मर्यादित ढंग से करें पर उसमें फंसें नहीं, निष्कामी बनें।

पर अनात्म से व्यवहार अमर्यादित ढंग से करने लगे और उसी में भूल गये हैं, उसी में रम गये, फंस गये। अनात्म व्यवहार करते-करते कल्पना का जगत रच लिया और कल्पना में विहार करने लगे।

दृश्य को तो जाने पर द्रष्टा को खोजो।

अनात्म से बच और आत्मा में लग।

अनात्म से उपराम होवे और आत्मा में लगे और अन्त में आत्मा में ही प्रतिष्ठित हो जावे। अनात्म की सत्ता ही लुप्त हो जावे। और वे ही होते हैं, परमहंस।

पर हमें तो जगत बिलोने की आदत है। जगत को बिलोने, जगत का व्यवहार पानी है, पानी के बिलोने से कुछ नहीं मिलता। और कुछ लोग तो कल्पना के पानी को बिलो रहे हैं।

जगत असत् है, माया है, पर हमारी आदत संसार में रहने की है, अतः संसार में भी रहें निःसंग भाव से। भगवान् का बनकर संसार में रहें। लोक व्यवहार एवं समाज की मर्यादा के लिये सांसारिक कर्तव्यों का विधिवत निःसंग व निष्काम भाव से पालन करें और लक्ष्य रखें ईश्वर, दृष्टि हमेशा ईश्वर पर लगी रहे और हाथ काम में। पर हम ईश्वर को भूल जाते हैं और हमारे हाथ और दृष्टि दोनों ही संसार में रहते हैं, फलतः हम संसार के बंधन में फंसते जाते हैं और उसमें पिसते जाते है।

अकसर बहुत से लोग यह आक्षेप किया करते हैं, इस संत-महात्मा के शिष्यों में कुछ जुआरी हैं, कुछ शराबी हैं, कुछ सिगरेट पीने वाले हैं, कुछ मांसाहारी हैं, कुछ चोर हैं। तब प्रश्न है, शिष्यों के दुर्गुण महात्मा या गुरु से छूटे हैं या बढ़े हैं।

जो रोगी होगा वही डॉक्टर से इलाज के लिये जायेगा। पर डॉक्टर रोगी को कहे कि तुम अपने रोग को छोड़कर मेरे पास आओ तो डॉक्टर नहीं हुआ।

वैसे ही जिनको संसार के रोग लगे हैं, उससे मुक्त होने के लिये गुरु के पास आते हैं। गुरु के पास आने से उनकी बुरी आदतें छूटती हैं। यह तो नहीं गुरु को ही उनका संगदोष लगता है। गुरु उनके संग से शराबी, जुआरी, चोर नहीं होते।

अगर गुरु को उनका संगदोष लग गया तो वह गुरु नहीं है। वरन् गुरु के पास आने से उनके शिष्यों की बुरी आदतें छूटती जाती है। यह नहीं होता कि गुरु शिष्यों को सुधारने जाय, और गुरु ही उन दोषों-रोगों से पीड़ित हो जाय। वरन् जैसे डॉक्टर टीबी के रोगी का आपरेशन इस कुशलता से करता है कि उस रोग के कीटाणु उसके शरीर को न लगे इसके लिये डॉक्टर आवश्यक सावधानी बरतता है।

जो कुशल मजदूर है, वह इस प्रकार कार्य करता है कि कीचड़ के छींटे उस पर न पड़ें। उसके कपड़े गन्दे न हो जाय। उसी प्रकार हमें कर्म इस प्रकार करना चाहिये कि कर्म के छींटे हम पर न पड़ें। मूर्ख मजदूर होता है, वह कार्य इस ढंग से करता है कि कीचड़ के छींटों से अपने शरीर और वस्त्र को गंदा कर लेता है। वैसे ही हम भी अपने कर्मों से अपने को बांध लेते हैं। अतः हम कर्म इस युक्ति से करें कि कर्म के छींटे हम पर न पड़ें। वह कर्म बंधन का कारण न बनकर मुक्ति का साधन बन जाय।

जब मनुष्यों के मन में अपने ही प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी तब समझ लेना चाहिये कि वह विनाश की अन्तिम सीढ़ी पर आ गया है। मेरी ओर देखिये, मैं हिन्दू जाति का एक तुच्छ प्राणी हूँ, फिर भी मुझे अपनी जाति का अभिमान है अपने पूर्वजों पर गर्व है। अपने को हिन्दू कहने में मुझे गर्व का अनुभव होता है। मुझे अभिमान है कि आपके अयोग्य सेवकों में भी एक हूँ। मुझे इस बात पर घमंड है कि मैं आपका देशवासी हूँ जो ज्ञानियों के वंशज है तथा संसार में अद्वितीय महाप्रतापी ऋषियों के वंशज है। अतः अपने में विश्वास रखिये और अपने पूर्वजों पर लज्जित होने के बजाय उन पर अभिमान कीजिये।

—स्वामी विवेकानन्द

अपराध क्यों होता है उसका परिमार्जन कैसे करें

नये वर्ष का नया दिन, द्विसहस्राब्दी का अन्तिम विदाई वर्ष का प्रथम दिन हम सबके लिये मंगलमय, भगवान् हम सबको सद्‌बुद्धि, सद्‌प्रेरणा दे, इसी भावना से आज हम सब सम्मिलित हुए, थोड़ी भगवत् चर्चा करने के लिये।

पहले अपनी वाणी और मन को पवित्र करने के लिये कुछ क्षण भगवत् स्मरण कर लेंवे।

यह ठीक है कि हमसे त्रुटि हुई है। पर त्रुटि किसके जीवन में नहीं होती है। बच्चा उठते-पड़ते ही चलना सीखता है। किसी के जीवन में भी विकास सीधी रेखा में नहीं चलता। सबके जीवन में उत्थान और पतन के दौर आते हैं। बहुत बार अनजाने में, बहुत बार बुरे संग के कारण, गलत मान्यता, गलत विचार को अपना लेने से त्रुटियाँ हो जाती हैं। उदाहरण के लिये महात्मा गांधीजी जब छोटी अवस्था में थे एक मित्र के प्रभाव में आ गये। और उसके सिखाये-सिखाये मांस-मदिरा खाने लगे और इसके लिये पैसे पिताजी की पॉकेट से चुराने लगे। यहां तक कि कोठे में भी पहुंच गये।

जब प्रथम-प्रथम में अपराध करते हैं, तब बुद्धि दंशन करती है, देखो तुम गलत कर रहे हो, थोड़ा आत्मग्लानि का बोध होता है, यदि हम अपने विवेक को जबर्दस्ती नहीं दबायें अपनी अन्तरात्मा का करुण क्रन्दन को हम सब सुन सकते हैं। हम दुनिया के सामने भले ही अपना अपराध छिपाये पर स्वयं से अपना अपराध थोड़े ही छिपा सकते हैं। परिणामतः गांधीजी की अन्तरात्मा उनको दंशन देने लगी, गांधीजी को बकरी का करुण क्रन्दन स्वप्न में सुनाई पड़ने लगा।

उनके पिताजी बड़े क्रोधी स्वभाव के थे। उनके सामने सीधे-सीधे अपराध स्वीकारने का साहस नहीं हुआ। किन्तु संयोग से गांधीजी के पिताजी अस्वस्थ, उनके पाछे में बहुत बड़ा फोड़ा निकल आया था। अतः शय्याशायी थे। तब गांधीजी ने पिताजी के नाम पत्र लिखा जिसमें अपने अपराध को स्वीकार कर दण्ड की प्रार्थना की। तब गांधीजी की माता ने राम मंत्र दिया था।

तो मानव का मन बदलते ही, हृदय में परिवर्तन होते ही, बुद्धि सुधरते ही मानव बदल जाता है। नारदजी के सत् परामर्श के प्रभाव से रत्नाकर डाकू महर्षि वाल्मीकि बनता है कि नहीं। अंगुलिमाल भगवान् बुद्ध के सद्परामर्श से महात्मा बन जाता है कि नहीं। नास्तिक विवेकानन्द रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आकर परम आस्तिक विश्ववंद्य स्वामी विवेकानन्द बन जाता है कि नहीं!

चौथे अध्याय में भगवान् कहते हैं—

अपि येदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्व ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। 4/36

यदि तू समस्त पापियों से अधिक पाप करने वाला भी है, तो भी (इस) ज्ञानरूप नाव के द्वारा ही तू सम्पूर्ण पाप (समुद्र) से भलीभांति तर जायेगा।

वेदान्त मत में सब प्रकार के पाप वास्तव में अज्ञान जनित भूल ही हैं। ज्ञान के प्रकाश से भूल दूर होते ही जीव निष्पाप हो जाता है। जन्म-जन्मान्तर के समस्त पाप ज्ञानरश्मि के स्पर्श से ही लवमात्र में लुप्त हो जाते है।

ईसाई मत एक मौलिक पाप (Original sin) की कल्पना करता है। उनके अनुसार आदम ने ईश्वर के मना करने पर भी जो स्वर्ग का फल खा लिया वही मौलिक पाप है जो आज तक सारी मानव जाति को पापी बनाये हुए हैं। वे अंधविश्वास रखते हैं कि मनुष्य चाहे कितने भी पवित्र कर्म करे वह तब तक पाप मुक्त होकर स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता। जब तक वह ईसा को अपना व्यक्तिगत मुक्तिदाता नहीं मानता। इसकी तुलना में भारतीय दर्शन का मत है कि प्रत्येक जीव अपने वास्तविक स्वरूप में पवित्र एवं निष्पाप है, उसमें मौलिक पाप के स्थान पर मौलिक दिव्यता है। सृष्टि पाप के बीज से पैदा नहीं हुई, वह सच्चिदानन्द से ही प्रकट हुई है। प्रत्येक पाप वास्तव में एक भूल है जो ईश्वरीय ज्ञान के प्रकट होते ही लुप्त हो जाता है। जैसे रात्रि के घने काले अंधकार को जो करोड़ों योजन दूरी तक फैला हुआ है, उसे ना झाड़ू-बुहारी से हटाया जा सकता, न तलवार से काटा जा सकता है, न तोपों से उड़ाया जा सकता है, न किसी अन्य उपाय से किन्तु सूर्य के प्रकाश की प्रथम किरणों के स्पर्श मात्र से ही वह करोड़ों योजन तक फैला हुआ भयानक काला अंधेरा क्षण मात्र में ऐसा लुप्त हो जाता है कि उसका कोई चिह्न मात्र भी नहीं बचता। इसी प्रकार ज्ञान रूपी सूर्य की एक हलकी सी किरण छू जाने से ही समस्त पाप लुप्त हो जाता है। पाप मानव जीवन का मौलिक अंग नहीं है। जैसा ईसाइयत मानती है। पाप मानव पर आरोपित है अतः वह उससे अलग हो सकता है। यदि पाप जीवन का मौलिक अंग होता तो रत्नाकर डाकू कभी महर्षि वाल्मीकि नहीं बन सकता था। पत्नी के काम में अन्धा नवयुवक गोस्वामी तुलसीदास न बन पाता और मद्य मांस मदिरा प्रयोग करने वाला एक बिगड़ा हुआ

बनिये का बच्चा महात्मा गांधी न बन पाता। वास्तव में मन के बदलने से मानव बदल जाता है। यह हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया भारतीय दर्शन की अमूल्य देन है।

गीता के नौवें अध्याय भगवान् पुनः कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। 9/30

यदि कोई अत्यन्त दुराचारी (मनुष्य) भी अनन्यचित् होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही माना जाना चाहिये, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला हो गया है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। 9/31

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है तथा चिरन्तन शांति को प्राप्त हो जाता है।

अतः स्पष्ट है जो अपने वर्तमान को सुधार लेता है, उसे साधु ही समझना चाहिये। जिसका कल अच्छा था, वह आज साधु है जो आज को सुधार लेगा तो उसका भविष्य अच्छा हो जायेगा। Every saint has past every sinner her future. प्रत्येक सज्जन का अतीत अच्छा था तो आज वे साधु हैं, सज्जन हैं, प्रत्येक पापी के पास भविष्य है, यदि वह अपने आज को सुधार लेता है, वह साधु हो जाता है। जब हम अपनी त्रुटियों को स्वीकार कर उचित प्रायश्चित कर लेते हैं, तो वह त्रुटि नहीं रहकर विकास का साधन बन जाती, विकास की सीढ़ी या पेड़ी बन जाती है।

जब हम गिरते हैं, तब भगवान् बार-बार हमें उठने का अवसर देते है, क्योंकि मनुष्य अपने मूल स्वरूप में दिव्य है, पर जब उस पर अज्ञान का, गलत मान्यता का गलत संग का पर्दा पड़ जाता है, तब उसके जीवन में अपराध होने लगता है। सारे अपराध बुद्धि की मंदता, नष्टता या भ्रष्टता के कारण होते हैं। बुद्धि के ठीक होते ही अपराध रुक जाते हैं। हम जितनी बार गिरते हैं, उतनी बार हमें उठने का अवसर भगवान् देते हैं, क्योंकि हम मूल रूप में निष्पाप हैं, पवित्र हैं, अनन्त पथ के यात्री हैं। कितनी ही बाधा-विपत्ति, विपरीत परिस्थितियां आयें वह हमारे मूल स्वरूप को सदा के लिये ढक नहीं सकता। बादल कितने ही घने क्यों न हो वह सदा के लिये सूर्य को ढक नहीं सकता। रात्रि का अंधकार सूर्य के प्रकाश को अधिक देर तक ढक कर रख नहीं सकता।

अतः हमारी बुद्धि सही मार्ग पर चले इसके लिये मानव जीवन की अपूर्वता पर उसकी विशेषता पर विचार करना चाहिये। क्यों शास्त्रों ने मनुष्य जीवन की बड़ी महिमा गायी है, देव दुर्लभ व मुक्ति का द्वार कहा है। देव योनि से भी मानव योनि करें श्रेष्ठ माना गया है। इसके लिये पहले विचार करे पशु जीवन और मनुष्य जीवन में एक मौलिक अन्तर है। पशु अपने जीवन का, अपने कर्मों का निरीक्षण नहीं कर सकता, विश्लेषण कर सही-गलत का निर्णय नहीं कर सकता है और न ही वह

अपने-आपको जान ही सकता। वह तो प्रकृति के द्वारा नियंत्रित है जैसा आदि काल से रहता आया है, खाता आया है वैसे ही रहता है पर मनुष्य के साथ ऐसी बात नहीं है। पशु का जीवन स्थिर जीवन है, न विकास ही कर सकता और न पतन ही। पर मनुष्य के साथ ऐसी बात नहीं है। वह चाहे तो अपना सर्वोच्च विकास कर सकता है, एवं गलत शिक्षा व संस्कारों के प्रभाव में उसके पतन की भी कोई सीमा नहीं है। वह नरपशु से नर पिशाच भी बन सकता है। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है, शक, हूण, कुशान, रोम जाति का इतिहास, इस्लाम व ईसायइत का इतिहास कम्यूनिस्ट इस बात का सबूत है। और सही शिक्षा व संस्कारों के आधार पर वह चाहे तो अपना सर्वोच्च विकास कर सकता है। स्वयं का निर्माण कर पूरी मानव जाति का, प्राणीमात्र का उद्धार कर सकता है, जैसे राम, कृष्ण, शिवाजी, राणाप्रताप आदि।

मानव भगवान् की श्रेष्ठतम कृति है। भगवान् ने अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त वीर्य, तेज, अनन्त चरित्र इसमें भर दिया है जिसे साधना के द्वारा, शिक्षा के द्वारा, संस्कारों के द्वारा, सत्संग के द्वारा, सज्जन संग के द्वारा, जगाना पड़ता है।

जैसे दूध को मूल प्रकृति पर छोड़ दिया जाय तो वह विकृत रूप धारण कर लेता है पर यदि उसे संस्कारित कर लेवें तो उससे दही, छाछ, मक्खन, घी, अनेक प्रकार की मिठाइयां प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे ही मनुष्य को सही शिक्षा व साधना के द्वारा संस्कारित कर लिया जाय तो मानव से महामानव बन जाता है। अन्यथा दैत्य बनकर सारे संसार को त्रास देने वाला बन जाता है। और वही सही ढंग से शिक्षित हो जाय तो मानव से महामानव, देव से महादेव, महादेव से साक्षात् ब्रह्म बन जाता है और उसे अन्दर-बाहर सर्वत्र नारायण के ही दर्शन होते हैं। स्वयं में अपने-आपके ही दर्शन होते हैं, अन्यों के रूप में सब अपने ही रूप दिखते हैं कोई गैर दिखता ही नहीं तब वह किसको सतायेगा, किस पर अत्याचार करेगा। जब सबमें वह स्वयं ही समाया हुआ है, मनुष्य का स्वभाव है कि वह स्वयं पर अत्याचार, अन्याय नहीं कर सकता है।

जब तक द्वैतपना है, जब तक गैरपना, तभी तक अत्याचार है, अपराध है। जब तक गैरपना है तब तक किसी का खैर नहीं है। पर जब गैरपना मिट जाता है विगानापन मिट जाता है, तब तक सबके साथ हमारी बन जाती है। सब हमारे भाई बन्धु, मित्र, आत्मीय जन परिवार के अंग बन जाते हैं। मिट गई सब बात पराई, संकल संग हमारी बन आई।

इस अवस्था तक पहुँचने के लिये आवश्यक है कि कुछ बिन्दुओं पर नित्य विचार करें।

हमसे जो अपराध हुआ वह अन्तरमन से अपने अन्दर ही अन्दर स्वीकारें और यह सोचें कि भगवान् ने हमें प्रायश्चित्त करने का, तपस्या करने का, उस

अवस्था से उबरने का अवसर दिया है ताकि अपनी त्रुटि को यहीं परिमार्जित कर स्वयं को शुद्ध-पवित्र कर बाहर निकलें। और इसका एहसास परिवार जनों, समाज जनों को होना चाहिये और हम फिर से नया जीवन प्रारम्भ करें।

इसके लिये नित्य विचार करें कि हम मात्र शरीर नहीं हैं। हम विलासी कुत्ते बनने के लिये नहीं आये हैं। जो रसगुल्ला हमारी जिह्वा को ललचाता है, वह सदा रहने वाली नहीं है। आप शरीर से ऊपर अशरीरी आत्मा हैं।

मन को अच्छे संस्कार देवें। जैसे शरीर को नित्य शुद्ध रखने के लिये प्रयास करते हैं, उसे नित्य नहलाते हैं, वैसे मन को नित्य धोवे उसे अच्छे संस्कार देवें। मन के मनोरंजन के नाम पर हलका, घटिया, अश्लील साहित्य पढ़कर मन को और गन्दा न करें।

अच्छे विचार मन में लावें।

बुद्धि को सद्‌विचार देवें। इसके लिये सत् साहित्य पढ़ें।

सारे अपराध बुद्धि की विकृति के कारण, बुद्धि की मंदता, नष्टता एवं भ्रष्टता के कारण अतः बुद्धि नैतिकता के अभिमुख होनी चाहिये। नैतिकता भगवद्‌मुखी होनी चाहिये।

शुद्ध-मन-बुद्धि ही परमात्मा है। यह ठीक है कि किसी विशेष परिस्थिति में पड़कर या गलत संग में पड़कर या सही वातावरण, सही परिवेश या पालन-पोषण के अभाव में या शिक्षा के अभाव में या अर्थाभाव के कारण आपसे अपराध हो गया। इसको सुधारने का, प्रायश्चित्त करने का आपको अवसर मिला है। इसे आप जेल या बंदीगृह न मानकर तप गृह, प्रायश्चित्त गृह, सुधारगृह मानें कि भगवान् ने आपको सुधरने का स्वयं को तपाने का अवसर दिया है और इसका सही उपयोग करके आप एक अच्छे इनसान बनकर बाहर निकलेंगे।

वस्तुतः हम चाहते हैं, हमसे पाप कर्म न होवे पर हो जाते हैं। हम चाहते हैं हमसे पुण्य कर्म होवे पर वह हो नहीं पाते हैं।

हम सब चाहते हैं सुख पर पुण्य कर्मों से बचते रहते हैं, हम चाहते हैं दुःखों से बचना पर युक्तिपूर्वक पाप कर्म करते रहते हैं। पाप कर्म बड़ी ही बुद्धिमत्तापूर्वक, युक्तिपूर्वक करते रहते हैं। और धर्म के कार्य, परोपकार के कार्य सत्संगादि से बड़ी ही सावधानीपूर्वक बचते रहते हैं।

तो ऐसा क्यों होता है। हम सुख तो चाहते हैं, पुण्य कर्म तो चाहते हैं पर हो नहीं पाता। हम दुःख नहीं चाहते हैं, हम पाप नहीं चाहते है पर यह हुए बिना रहता नहीं है। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर देते हुए गीता कहती है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।। 3/37

रजोगुण से उत्पन्न यह काम है, यही क्रोध है। यह बहुत खाने वाला अर्थात् भोगों से कभी न तृप्त न होने वाला (और) महापापी है इसको (ही) तू इस संसार में शत्रु जान।

कामना कोई बुरी चीज नहीं है। हिन्दू धर्म इसका निषेध नहीं करता है, पर इसकी पूर्ति शास्त्र की मर्यादा में, धर्म की मर्यादा में, परिवार, समाज व लोक की मर्यादा में पूरी करनी चाहिये।

अपराध दो आधार पर होते हैं, अर्थ या विषयों के अभाव में। जब हमारी प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तो हम सोचते हैं, इससे भला हम अपराध करके जेल चले जाय वहां खाने को भोजन जैसा भी क्यों न हो मिलेगा, पहनने को वस्त्र, भले ही कैदी के ही वस्त्र क्यों न हो और सिर छुपाने के लिये छत तो अवश्य मिल जायेगी। इस प्रकार विषयों के अभाव में अपराध हो जाते हैं। इस संदर्भ में राष्ट्रपति वी.वी. गिरि ने प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी को गरीबों को सस्ते आवास एवं भोजन उपलब्ध कराने की व्यवस्था का सुझाव दिया जिसे इन्दिरा गांधी ने अस्वीकार कर दिया था।

विषय या अर्थ के प्रभाव से भी अपराध होते हैं। विषय ही जीवन है, इसके बिना जीवन बेकार। इतनी वस्तुएं तो तेरे पास होनी ही चाहिये। ये वस्तु, यह पद, यह प्रतिष्ठा जैसे भी हो प्राप्त होवें। विषय के इस प्रकार के गलत प्रभाव के कारण भी अपराध होते हैं। यानी जीवन के प्रति सम्यक् दृष्टि नहीं।

तो जीवन के प्रति सम्यक् दृष्टि प्राप्त होवें इसके लिये धर्मचर्चा, सत्संग, स्वाध्याय, योग की कक्षा आदि की व्यवस्था होनी चाहिये।

अर्थ के अभाव में जो अपराध होते हैं, उसके शमन के लिये कुटीर उद्योगों की शिक्षा की व्यवस्था हो ताकि ये स्वावलम्बी जीवन जी कर अर्थोपार्जन कर सके ताकि प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके जिससे कि अपराध की आवश्यकता महसूस न होवें।

निर्धन अपराध करता है, अर्थ के अभाव में, एक धनी, राजनेता आदि बड़े लोग अपराध करते हैं, अर्थ के प्रभाव के कारण। इस दोनों स्थिति से निबटने का प्रयास होना चाहिये। ताकि हम अपराधों से मुक्त होकर स्वस्थ जीवन जी सके और स्वस्थ देश व समाज का निर्माण कर सके।

अपराध के कारण मुख्य दो अतः शमन के भी दो उपाय—

अर्थ के अभाव में—उसके लिये विविध प्रकार के हस्तकौशल कुटीर,

उद्योग की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये, समाज, सरकार एवं संस्थाओं के द्वारा। इसका शमन भौतिक उपायों के द्वारा हो सकता है।

अर्थ के प्रभाव से जो अपराध होते हैं उसके शमन के लिये आध्यात्मिक उपाय करना पड़ेगा। समझना होगा हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है, मन को कैसे वश में किया जा सकता है, हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है, उससे हम दूर क्यों हैं? उसको कैसे पुनः प्राप्त कर सकते हैं।

अविवेकी भोग के दुष्परिणाम—अविवेकी दमन का भी दुष्परिणाम विवेकपूर्वक, शास्त्र सम्मत ढंग से भोग भोगे एवं एक निश्चित समय के पश्चात उससे ऊपर उठे।

उच्च मानसिक, आध्यात्मिक धरातल वाले भोग से स्वयं ही विरत हो जाते हैं। एक आदर्श को सामने रखकर। अभ्यास व वैराग्य द्वारा भी मन को वश में लाना चाहिये।

बहुतों ने तो देश की स्वाधीनता के लिये मानवता की रक्षा के लिये, सत्य के पालन के लिये, जीवन के उच्च जीवन-मूल्य से प्रेरित होकर सहर्ष कारा दण्ड को स्वीकारा एवं इसका उपयोग स्वयं को अधिक से अधिक योग्य बनाने में किया। वीर सावरकर, श्री अरविन्द, रामप्रसाद बिस्मिल, तिलक, गांधी ने इस अवसर का सदुपयोग किया योग साधना में, सत् साहित्य अध्ययन में, साहित्य सृजन में। आप भी यहाँ अच्छा साहित्य पढ़े, योग का अभ्यास करे, हस्त कौशल भी सीखे ताकि जब निकले तक अपने-अपने छोटे-छोटे उद्योग स्वयं चला सके।

जेल की मर्यादा है उसमें रहे, सभी कैदी परस्पर भाई-भाई की तरह रहें, एक-दूसरे को समझे एक-दूसरे के दुःख-दर्द को समझे, परस्पर में सहयोगी बने।

जेलर साहब एवं सरकार से भी निवेदन है कि इनके साथ मानवतापूर्ण व्यवहार यहाँ पर होवे। जो निरक्षर हो उन्हें साक्षरता की व्यवस्था होनी चाहिये, इन्हें यह कुटीर उद्योग, हस्त कौशल की शिक्षा उपलब्ध होवें, ताकि अर्थ के अभाव में जो अपराध होते हैं, उसका शमन होवें। अर्थ के प्रभाव में अपराध होते हैं, उसके लिये आध्यात्मिक उपाय होने चाहिये, उन्हें अच्छे एवं सम्यक् विचार मिले, उन्हें सत्संग, अच्छी पुस्तकें उपलब्ध होवें। ताकि ये योग्य इंसान बनकर निकले एवं पुनः अपने घर व समाज में अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो सके।

आप परिवार जीवन, समाज जीवन, राष्ट्र जीवन के अभिन्न अंग हैं। आपके बिना परिवार, समाज व राष्ट्र जीवन अधूरा है। आप सबको अपनी-अपनी महत्ती भूमिका निभानी है।

आशा है यहाँ से आप नयी शक्ति, नयी ऊर्जा, नयी प्रेरणा संग्रह करके अपने-अपने क्षेत्र में पदार्पण करेंगे।

अपराध कब होता है?

रामकृष्ण देव ने कहा है—ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति में है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर में नहीं है, और इसलिये वह दुःखी है।

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं, ईश्वर के साथ सामंजस्य टूट जाना ही रोग है। Diseare is to be dis-at-ease with God. अर्थात् परमेश्वर के साथ सहज सरल सम्बन्ध टूट जाना ही रोग है।

गुरु नानकदेव कहते हैं—

परमेश्वर को भुल्लयो व्यापन सबै रोग

परमेश्वर को भूलने से ही संसार के सब रोग आदमी को जकड़ लेते हैं। अमेरीका के महान् दार्शनिक Ralph waldo Emerson इमर्सन ने कहा है The begining and end of everything wrong with as that we have forgotten God. अर्थात् हमारी समस्त बुराइयों (क्लेशों) एवं समस्याओं का प्रथम और अन्तिम कारण यही है कि हम परमेश्वर को भूल बैठे हैं।

जो व्यक्ति सदा ईश्वर को हाजर-नाजर जानता है, जो यह अटल विश्वास रखता है कि प्रभु सर्वसाक्षी एवं सर्वान्तर्यामी है वह पाप या कुकर्म करने से बचा रहता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं—

राम झरोखे बैठि के सबका मुजरा लेत,
जैसी जाकी भावना वैसा ही फल देत।

परमेश्वर मानो कि इन्द्रिय रूपी झरोखा में भी बैठा हुआ है और अन्दर की इन्द्रिय अन्तःकरण में भी बैठा हुआ सब खेल-तमाशा देख रहा है। एक पिता अपने छोटे शिशु पुत्र के साथ प्रातःकाल सैर एवं स्नान के लिये गये और लौटती बार उनके मन में इच्छा हुई कि खेत से एक मोटा तरबूज तोड़कर घर ले जाय। बच्चे को किसी की आगमन पर तुरंत सूचना देने के लिये पहरेदार के रूप में खड़ा करके वह स्वयं खेत में तरबूज तोड़ने गया, बच्चे ने पुकारा पिताजी कोई देख रहा है, पिता ने वापस आकर देखा वहाँ कोई व्यक्ति नहीं है, इस प्रकार वह दुबारा, तीबारा तरबूज तोड़ने

गया। इस बार बच्चा ऊँचे स्वर में चिल्लाता है, कोई देख रहा है पिता ने उसे व्यर्थ का उपहास मानकर बच्चे को थप्पड़ लगाया, कौन देख रहा है? अपने पिता से ही मजाक करते हो? बच्चे ने कहा। पिताजी आपने ही तो मुझे बताया था कि ईश्वर सब कुछ देखता है, यह सुनकर पिता पुत्र को छाती से चिपका लेता है। इस प्रकार ईश्वर की सता में अटल विश्वास मनुष्य को नैतिकता में बांधे रखता है।

विश्वव्यापी न्याय के लिये आवश्यक है, सृष्टि में नैतिक नियम की प्रतिष्ठा और नैतिक नियम के नियामक ऐसे परमपुरुष अथवा परमशक्ति की अनिवार्यता जो कर्मों के मूल उत्स को भी जाने। जहाँ कहीं छिपकर कर्म किया जाय वहां पहले से ही मौजूद हो और वह इतना शक्तिशाली हो कि कोई व्यक्ति उसके अनुशासन का निरन्तर उल्लंघन करते रहने एवं कर्म के अच्छे-बुरे पुरस्कार को ना भोगने की धृष्टता न दिखा सके। अतः कर्म सिद्धान्त के विश्वव्यापी नैतिक नियम के नियामक के लिये विश्वव्यापी न्याय की तुला को स्थिर रखने के लिये अन्तर्यामी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान सत्ता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

भारत का (मानव) इतिहास साक्षी है कि सभी नैतिक मूल्य सर्वप्रथम धर्म की गोदी में ही पले हैं। वेद ने उपदेश दिया—सत्यंवद, धर्मचर, मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव आदि। मानवता को शैशव में धर्म एवं भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ने मानव समाज को नैतिक मूल्यों की घुटी पिलायी है। और धर्म ने मानव को नैतिक सदाचार सम्पन्न बनाया है। प्राचीन भारत इसका साक्षी है।

हमारी परम्परा थी—रघुकुल रीत सदा चली आई, प्राण जाय पर वचन न जाये। मूछ के बाल गिरवी रखे जाते थे। लिखत-पढ़त की आवश्यकता नहीं होती थी, वचन का मोल होता था। आज ये सब बातें हमें आश्चर्यमय लग सकती हैं।

इसके साक्षी स्वयं विदेशी यात्री भी है कवि सैमुएल जोन्सन का कहना है, हिन्दू लोग धार्मिक, प्रसन्न, न्यायप्रिय, सत्य भक्त, कृतज्ञ और प्रभु-भक्ति से युक्त होते हैं। मैक्समूलर की एक पुस्तक है—India what can it teach us में एक अध्याय हिन्दुओं के चरित्र पर है जिसमें उन्होंने कर्नल स्लीमैन को उद्धृत किया है। कर्नल स्लीमैन बताते हैं कि यहां के जन-साधारण अपनी पंचायतों में धर्ममय से आद्तन भी सत्य के साथ चिपके रहते हैं। वे लिखते हैं—मुझे ऐसे सैकड़ों-हजारों मामले, घटनाएं और विवरण ज्ञात है जहाँ कोई भी अभियुक्त यदि थोड़ा-सा झूठ बोल देता तो वह अपनी सम्पति, स्वाधीनता और जीवन की अनायास ही रक्षा कर सकता था, किन्तु वह झूठ बोलने को राजी नहीं हुआ।

मैक्समूलर जिज्ञासा करते हैं, क्या कोई अंग्रेज जज अपने देशवासियों के लिये ऐसा प्रमाण-पत्र देने का साहस कर सकता है?

मैक्समूलर पृष्ठ 54 में कहता है—

यह सर्वथा सत्य है कि ईसवी दसवी शताब्दी में हुए मोहम्मद गजनवी (के आक्रमण) से पहले भारत में बहुत थोड़े विदेशी यात्री पहुंच पाये थे और जो वहाँ गये भी थे, उनमें से भी एक समालोचक-लेखक की दृष्टि तो बहुत ही कम लोगों के पास थी। फिर भी सचमुच यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है कि चाहे यूनानी हो या चीनी, ईरानी हो या अरब, किसी भी विदेशी यात्री ने भारत के बारे में कुछ भी लिखा हो हमें उसमें भारत के राष्ट्रीय चरित्र के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में भारतवासियों की सत्यनिष्ठा एवं न्यायप्रियता की चर्चा सर्वप्रथम सर्वत्र समान रूप से मिलती है। विख्यात चीनी बौद्ध यात्री हयनसांग के कुछ शब्द उद्धृत करना चाहूँगा।

यद्यपि भारत के लोग तुनक मिजाज है, फिर भी स्पष्टवादिता और ईमानदारी जैसे अपने चारित्रिक गुणों के कारण वे सर्वत्र विख्यात हैं। जहां तक धन-सम्पत्ति का प्रश्न है, वे अन्यायपूर्ण तरीके से कभी कोई वस्तु नहीं लेते। न्याय के मामले में वे अत्यधिक उदार है। स्पष्टवादिता उनके प्रशासनिक गुणों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

प्रो. सत्यव्रत सिद्धातलंकार ने अपनी पुस्तक वैदिक संस्कृति का संदेश—पृष्ठ 218 रैमजेम्यूर को उद्धृत किया है। रैमजेम्यूर अपनी पुस्तक The lands and the first Empire के पृष्ठ 76 में लिखते है कि इंग्लैण्ड में पूर्व (East) से जो माल आता था, उसे बेचने वालों ने, इंग्लैण्ड में, कुछ व्यापारी कोठिया बनाई हुई थी, जिन्हें स्टील यार्ड (Steel yards) या ईस्टर्लिंग (Easterling) कहते थे। ईस्टर्लिंग का अर्थ था जो माल ईस्ट (East) अर्थात् भारत से आता था। ईस्टर्लिंग शब्द से ही पीछे जाकर (Sterling) शब्द बना, जिसका अंग्रेजी में अर्थ है—शुद्ध। इन कोठियों में माल वजन में पूरा उतरता था, क्योंकि यह भारत से आता था—यह साख थी भारत के व्यापारियों के माल की। ईस्टर्न से स्टर्लिंग बन गया—शुद्ध। तभी उपनिषदों में अश्वपति कैकय अभ्यागत ऋषियों को कहते हैं। 'न मे स्तेनो जनपदे'—मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है। यह थी विश्व में भारत की साख किसी समय। मैगस्थनीज भारत की यात्रा के बाद लिखता है कि इस देश में कोई ताला नहीं लगता था; घर में रात को सिर्फ चाँद की किरणें प्रवेश करती थी, दूसरा कोई नहीं।

मैक्समूलर ने अनेक यात्रियों को उद्धृत किया है। फिर पृष्ठ 57 में कहता है—इस प्रकार मैं एक के बाद दूसरी पुस्तकों से लिये हुए उद्धरण देता ही चला जाऊँगा, जिनमें हम पाते हैं कि भारत में पहुँचने वाले प्रत्येक विदेशी व्यक्ति को भारतवासियों के राष्ट्रीय चरित्र में उसकी सत्यप्रियता ने उनके एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुर के रूप में प्रभावित किया है। इनमें से किसी ने भी आज तक भारतीयों पर असत्यशील होने का आरोप कभी नहीं लगाया। अवश्य ही इसका

कोई ठोस आधार है, क्योंकि यह ऐसा मन्तव्य है, जिसे विदेशी यात्री किसी दूसरे देश के लिये यों ही नहीं व्यक्त करते। आज भी भारत के लोग निरपवाद रूप से सच ही बोलते हैं। इसके विपरीत हम फ्रांस की यात्रा पर गये किसी अंग्रेज लेखक के यात्रा विवरण को पढ़े तो हमें उसमें फ्रांसीसियों की ईमानदारी और सत्यनिष्ठा आदि की चर्चा शायद ही कहीं मिल पायेगी। इसी प्रकार इंग्लैण्ड का भ्रमण करने किसी फ्रांसीसी यात्री के विवरणों में अंग्रेजों में इन गुणों की विद्यमानता का नाम मात्र के लिये भी उल्लेख कठिन है।

यह परिणाम था धर्मनिष्ठा का ईश्वर निष्ठा का। अंग्रेजों के द्वारा धर्मनिष्ठा, ईश्वरनिष्ठा पर सब प्रकार के आघात के बाद भी हमारी धर्मनिष्ठा, ईश्वरनिष्ठा बनी रही। अंग्रेजों की चुनौती एवं षड्यंत्रों का प्रत्युत्तर देने वाले महापुरुषों के कारण। स्वाधीन होने के बाद तक कि 5-10 साल तक की यह स्थिति थी कोई काला बाजारी से धन कमाता था और कोई उसे टोक देता, आलोचना करता तो उसका सिर शर्म से, लज्जा से झुक जाता था। उसके सिर उठाने का साहस नहीं होता था। और आज स्थिति यह है, सत्यवादियों को सिर नीचा करके चलना पड़ता है। वे मूर्ख और पिछड़े हुए समझे जाते हैं।

आज देश इस पथ पर चलकर किस सर्वनाश पर पहुँच गये। आज अपना देश भ्रष्ट देशों की सूची में अग्रिम स्थान रखता है, असत पथ पर चलकर प्रथम में तो लगता—दिन दुगुनी रात चौगुणी उन्नति होती रही है, पर वह अन्त में जड़मूल से नष्ट हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा—

चिन्ता से चतुराई घटे दुःख से घटे शरीर
पाप से लक्ष्मी घटे कह गये दास कबीर
चिन्ता से चतुराई बढ़े दुख से बढ़े शरीर
पाप से लक्ष्मी बढ़े, झूठा दास कबीर
पाप से धन बढ़त है, बढ़त पांच और सात
तुलसी बारह तेरहे जड़ मूल से जात
भगवान् मनु ने भी यही बात कही है।

पर आज स्थिति यह है भले ही हम धर्म पालन करते दिखते हो, तीर्थ यात्रा, मन्दिर जाते हो, धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करते हो पर अन्दर से वैसी आस्था नहीं रही जैसा कि मैक्समूलर ने उद्धृत किया हो। फ्रांस के दार्शनिक फेनेलॉ के शब्दों में कह सकते हैं—'ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे हम ईश्वर से अधिक महत्त्व न देते हो।' जबकि रामकृष्णदेव एवं हमारी ऋषि परम्परा कहती है ईश्वर के लिये सबकुछ छोड़ा जा सकता है पर किसी के लिये भी ईश्वर का त्याग नहीं किया

जा सकता है पर आज स्थिति विपरीत है। यही बात तुलसीदासजी मीराबाई को कहते हैं—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।।
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।

इसलिये गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा जो जस करइ सो तस फल चाखा।

पुनः लिखते हैं—

तुलसी काया खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप पुण्य दो बीज है, बुवे तो लुने निदान।।

नानक देवजी भी कहते हैं—

परमेश्वर तो भुल्लयां ब्यापन सबै रोग।
छिन कड़वे हो गये जेते माया भोग।।

परमेश्वर को भुलाने से ही संसार के सब रोग आदमी को जकड़ लेते है। जिस संसार के भोगों को मनुष्य ईश्वर को भुलाकर कर भोगना चाहता है वही भोग क्षण भर में कड़वे सिद्ध हो जाते हैं। और महारोगों का कारण बनता है। भोग के लिये भगवान् को भुलाया तो न भगवान् ही मिले और न भोग ही बचे। ये भोग ही कड़वे रोग हो गये।

दीन गवाया दुनि से, और दुनि न चली साथ।
पाव कुल्हाड़ा मारया, नानक अपने हाथ।।

जैसे परिवार के लिये धर्म को छोड़ा, नीति को छोड़ा, भगवान् को छोड़ा, पर जिस संसार के लिये धर्म और नैतिकता छोड़ा किन्तु संसार मरने पर साथ नहीं जा सकता। इस प्रकार जीव अपने हाथ से ही अपने पांव कुल्हाड़ी चला रहा है।

हमारी स्थिति यह है पुण्य का फल सुख तो चाहते हैं; किन्तु पुण्यकर्म करना नहीं चाहते। वे प्रयत्नपूर्वक बुरे कर्म करते हैं, कोई पाप का फल पाना नहीं चाहता पर पाप यत्नपूर्वक करते हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।

एक उक्ति है—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि।।

वह मनुष्य जो स्थायी को छोड़कर अस्थायी के पीछे दौड़ता है—उस मनुष्य के पास जो भी स्थायी वस्तु है, वह भी नष्ट हो जाती है और अस्थायी का तो नाश हो जाना निश्चित ही है।

इस दुर्दशा से बचने के लिये श्री रामकृष्ण परमहंस देव कहते हैं—

एक के पीछे जितना भी शून्य लगायेंगे उतनी ही शक्ति बढ़ेगी। एक को हटा लो। तब सब शून्य का कोई शक्ति (कोई मूल्य) नहीं रहेगा। इसलिये मैं कहता हूँ एक को पहले बैठा लो। एक है ईश्वर और शून्य है विज्ञान, समाज सेवा आदि। ईश्वर को छोड़कर बाद देकर जो सेवा कार्य होगा, वह फलवती नहीं होगा। अतः ईश्वर की प्रार्थना करके, ईश्वर को सामने रखकर सब-कुछ करना है, तभी सेवा सार्थक होगी। ईश्वर को बाद देकर सेवा अन्तोगत्वा या कुछ काल उपरान्त में व्यर्थ हो जाता है या विकृत दिशा में चला जाता है।

दोनों हाथ उठाकर वेद व्यासजी भी कहते हैं धर्म के द्वारा ही चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।

उर्ध्व बाहुर्विरोम्येष न च कश्यिच्छणोति मे।
धर्मादर्थश्च च कामश्च स किमर्थ न सेव्यते।।

न जातु कामाय भयान्न लोभाद
धर्मत्यजे ज्जीवितस्यापि हे तोः।
नित्यो धर्म सुख-दुख त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य।

महाभारत के स्वर्गरोहण पर्व 5.6263 में वेद व्यासजी दोनों हाथ ऊपर उठाकर पुकार-पुकार कर कह रहा है पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से मोक्ष तो सिद्ध होता ही है अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं, तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते।

कामना से, भय से, लोभ से अथवा प्राण बचाने के लिये भी धर्म का त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुख अनित्य है। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बंधन का हेतु अनित्य है।

यही कारण है कि प्राचीन भारत चारों पुरुषार्थों में अग्रगण्य था। धन, वैभव, कला, कौशल, सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान सब दिशाओं अग्रज ही नहीं था सारे विश्व को सभ्यता और संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान का पाठ पढ़ाया।

सेवा का पुनीत संकल्प

मानव के व्यक्तित्व के तीन वृत्त (दायरे) होते हैं। एक पेट का दायरा, दूसरा परिवार का दायरा और तीसरा समाज का दायरा। लगभग 80 प्रतिशत लोग पेट के दायरे तक ही चिन्ता करते हैं। लगभग 19-20 प्रतिशत परिवार के चार-छः सदस्यों के पालन-पोषण की ही चिन्ता करते हैं। हजारों में कोई एक सज्जन समाज के दायरे की चिन्ता करता है। दुर्भाग्य से हमारे समाज का दायरा विगत एक हजार वर्षों से टूटा हुआ है।

हम ईमानदारी से अपने कलेजे पर हाथ रखकर अपने आप से पूछें कि पिछले चौबीस घंटों में हमने कितना समय पेट के लिए, कितना समय परिवार के लिए और कितना समय समाज के लिए दिया है? इसके उत्तर में हमें स्वयं ही अनुभव हो जाएगा कि हम अपने समस्याग्रस्त, संकटापन्न समाज की कितनी भयंकर उपेक्षा कर रहे हैं। यदि चार-छः दिन पेट की उपेक्षा की जाय तो पेट विद्रोह कर उठेगा, शरीर का बल क्षीण हो जायेगा तथा हम अर्धमृत से हो जायेंगे। यदि दो-चार मास परिवार की सेवा-सुरक्षा पर ध्यान न दिया जाय तो परिवार उजड़ जायेगा। हम तनिक सोचें कि जिस समाज की हमने एक हजार वर्ष तक चिन्ता नहीं की उसकी कैसी दुर्गति हुई होगी। पिछले हजार वर्ष का इतिहास साक्षी है कि सिन्ध के राजा दाहिर की पुत्रियों को बन्दी बनाकर बगदाद ले जाया गया तथा वहाँ उन्हें घोड़े की पूँछ के पीछे बाँध कर बाजारों में घसीट-घसीट कर मारा गया, सहस्रों-पुरुषों को गुलाम बनाकर तथा नारियों को दासी एवं रखैल बनाकर विदेशों में बेचा गया, नन्हे-नन्हे बच्चों को दीवारों में जिन्दा चुन दिया गया, ब्रह्मज्ञानी-सन्तों का चौराहों पर शीर्ष-छेदन हुआ, तपे हुए तवों पर और तेल के कड़ाहों में जलाया गया। वेद-मन्दिरों को ध्वस्त किया गया, कश्मीर के ब्राह्मणों का सामूहिक धर्मान्तरण हुआ, स्वदेश का एक-चौथाई भाग हिंसा एवं रक्तपात द्वारा काट कर परदेस बना दिया गया। इतिहास साक्षी है कि समाज के दुर्बल रहने पर न पेट सुरक्षित रहता है न परिवार। निर्बल समाज की रोटी एवं बेटी दोनों को दुष्ट लोग लूट कर ले जाते हैं।

हरिजन एवं वनवासी बन्धुओं को त्रिविध मार का शिकार बनना पड़ा है। एक तो निर्धन और अशिक्षित रहने के कारण वे पहले से ही पिछड़े हुए थे। दूसरे, विदेशियों का प्रहार सबसे अधिक उन्हीं पर हुआ। तीसरे वे हमारा स्नेह एवं सहयोग भी नहीं प्राप्त कर सके। वास्तव में यह तीसरा कारण ही सबसे प्रमुख कारण है। हमारी उपेक्षा से ही वे अशिक्षित एवं निर्धन बने रहे तथा हमारी सामाजिक उपेक्षा के महापाप के कारण ही वे विदेशी शक्तियों के अत्याचार का शिकार बनते रहे।

आज अपने युगों की उपेक्षा के महापाप को हमें धोना है। लम्बे तिरस्कार की ब्याज सहित क्षतिपूर्ति आज अपनी भरपूर सेवा द्वारा करनी है। समाज बचेगा तो हमारा पेट भी बचेगा और परिवार भी। यदि समाज सबल होगा तो न कोई हमारे पेट पर लात मार सकेगा, न परिवार की मान-मर्यादा लूट सकेगा तथा न हमारी श्रद्धा का खून होगा।

आइये, हम समाजसेवा का पवित्र संकल्प धारण करें।